ओ३म्

महर्षि दयानन्द स्वरचित

लिखित वा कथित

जन्म चरित्र

महर्षि दयानन्द सरस्वती

ट्रस्ट के उदेश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण रक्षा तथा प्रचार, एवं भारतीय संस्कृति भारतिय, शिक्षा, भारतीय विज्ञान, और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा।

ऋषि की अमर कहानी उन की अपनी ज़बानी

ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित
लिखित वा कथित

जन्म-चरित्र

सम्पादक
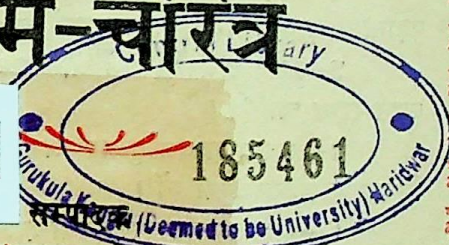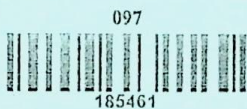
श्री पं० भगवद्दत्त जी

प्रकाशक

हंसराज कपूर--मन्त्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

षष्ठ संस्करण अमृतसर मूल्य ॥)

मुद्रक—सुरेन्द्र कुमार कपूर के अधिकार में
पंचनद प्रेस 'प्राईवेट' लिमिटिड, दुर्ग्याना आबादी, अमृतसर में छपा

ओम्

आर्य्य-समाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक-हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

———

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रकाशन

१. सन्ध्योपासनविधि—ऋषि दयानन्दकृत भाषार्थ -)
२. हवन मन्त्र ,, ,, ,, -)
३. आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्दकृत मू० ।)
४. पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत मू० ≡)
५. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्दकृत =)॥
६. आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्द कृत मू० ।=)
७. वैदिक ईश्वरोपासना (संग्रह) ≡)
८. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित जीवन चरित्र मू०।=)
९. ऋग्वेद भाषा भाष्य—ऋषि दयानन्द कृत संस्कृत भाष्य का अनुवाद, पं० यु० मी० कृत प्रथम भाग मू० २॥)
१०. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (परिवर्धित संस्करण) मू० ७)
११. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन का परिशिष्ट मू० ॥।)
१२. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास— (पं० यु० मी०) मू० ४)
१३. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ (मूलमात्र) अत्यन्त शुद्ध मू० ॥=)
१४. संस्कृत की अनुभूत सरलतम विधि (सं० संस्करण) मू० १।)
१५. उरुज्योतिः—वैदिक अध्यात्मसुधा—श्री डा० वासुदेवशरणजी लिखित वैदिक अध्यात्मविषयक उच्च कोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ मू० ३)
१६. वैदिक-स्वर-मीमांसा—लेखक युधिष्ठिर मीमांसक ३)
१७. क्षीरतरङ्गिणी—पाणिनीय धातुपाठ की प्राचीन व्याख्या १२)
१८. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (वेदों की शाखायें) मू० १०)

रामलाल कपूर एण्ड सन्ज़ लिमिटिड

गुरु बाजार अमृतसर । नई सड़क देहली । बिरहाना रोड कानपुर ।

वेदवाणी कार्यालय—पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस नं० ६ ।

सम्पादक द्वारा सम्पादित वा रचित ग्रन्थ

१. ऋषिदयानन्द का स्वरचित (लिखित वा कथित) जीवन-चरित।
२. ऋग्मंत्र व्याख्या (अप्राप्य)।
३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, बृहत्संग्रह ७)।
४. गुरुदत्त लेखावली-हिन्दी अनुवाद, सहकारी अनुवादक श्री संतराम बी०ए०। (अप्राप्य)
५. अथर्ववेदीय पंचपटलिका। ६. ऋग्वेद पर व्याख्यान।
७. माण्डूकी शिक्षा। ८. बार्हस्पत्य सूत्र की भूमिका।
९. आथर्वण ज्योतिष।
१०. वाल्मीकीय रामायण (पश्चिमोत्तर पाठ) बालकाण्ड, तथा अरण्य काण्ड का भाग।
११. उद्गीथ रचित ऋग्वेद भाष्य-दशम मण्डल का कुछ भाग।
१२. वैदिक कोष की भूमिका।
१३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास–तीन भाग :—
प्रथम भाग—वेदों की शाखाएं (परिवर्धित संस्करण) १०)
द्वितीय भाग-वेदों के भाष्यकार (अप्राप्य)
तृतीय भाग–ब्राह्मण ग्रन्थ (अप्राप्य)
१४. भारतवर्ष का इतिहास। मूल्य १५) (अप्राप्य)।
१५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास) मूल्य १६)
१६. भाषा का इतिहास ५)
१७. वेदविद्यानिदर्शन (१२.५०)

अन्य पुस्तकें

१— संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (पं० युधिष्ठिर मीमांसक) १०)
२.— आयुर्वेद का इतिहास (पं० सूरम चन्द जी कविराज) ८)

मिलने का पताः–२९ मार्केट, साऊथ पटेल नगर, नई दिल्ली १२।

❀ ओ३म् ❀

प्रथम संस्करण की भूमिका

चिरकाल से मेरी इच्छा थी कि ऋषि दयानन्द स्वोल्लिखित वा स्वकथित जीवन-वृत्त को आर्य्यभाषा में प्रकाशित किया जाये। इसी इच्छानुसार गत अवकाश के दिनों में मैं ने इस का भाषान्तर करना आरंभ किया। अनुवाद-कार्य प्रायः समाप्त होने को था, जब मुझे पता लगा कि मुन्शी दयाराम जी इस पुस्तक को कितनी देर हुई आर्य्यभाषा में निकाल चुके हैं। उस समय मैं ने इस काम को वहीं बन्द कर दिया। परन्तु कुछ काल अनन्तर जब मैं ने उनकी पुस्तक देखी तो मेरा विचार हुआ कि अपना अनुवाद कुछ टिप्पणियों सहित अवश्य प्रकाशित कर देना चाहिये।

इस पुस्तक के सम्पादन में निम्नलिखित ग्रन्थ देखे गये हैं।

(क) श्रीयुत धर्म्मवीर पं० लेखराम द्वारा सम्पादित उर्दू में ऋषि का बृहद् जीवनचरित्र। सन्—१८९७।

(ख) श्रीयुत दलपतराय एम. ए. रचित ऋषि की "खुदनविशत स्वानेह उमरी" (उर्दू)।

(ग) बंगला दयनन्द "स्वरचित जीवनवृत्त" (उल्लिखित वा लिखित) श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा सम्पादित।

(घ) उपर्युक्त लेखक के पंडित घासीराम एम. ए. द्वारा आर्य्य-भाषा में अनुवादित दयानन्द चरित्र की अवतरणिका [1]।

(ङ) श्रीमान् मुन्शी दयाराम जी तहसीलदार का (क) से अनुवाद, १६०४ ईस्वी।

(च) प्रो० मैक्समूलर को "चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप" भाग द्वितीय। इस में थ्यासोफिस्ट में प्रकाशित कुछ भाग मिलता है। सन् १८६८

यह जीवन—वृत्त वस्तुतः (क) अनुवाद मात्र है—

पाठकों को उस (क) पुस्तक का पूर्ण परिचय श्रीयुत पं० लेखराम जी के निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्राप्त होगा—

"स्वामी जी ने जब १८७२ ईस्वी में पूना वा मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की तो वहां के कई विद्वानों ने उनका जीवनवृत्त जानने का प्रयत्न किया। क्योंकि वे भाषा बोलने लग पड़े थे, और व्याख्यान भी दिया करते थे, अतः सज्जनों के वार वार के अनुरोध पर उन्हों ने ४ अगस्त १८७५ ईसवी को अपने जीवन-वृत्त पर एक व्याख्यान दिया। वह उसी वर्ष मराठी भाषा में मुद्रित हो गया।"

"हम ने उसका अनुवाद मराठी से आर्य्यभाषा में पं० गणेश रामचन्द्र और म० श्रीनिवास जी से कराया।"[2]

---

१. (ग) पुस्तक में (घ) की अपेक्षा कुछ टिप्पण ही अधिक है।

२. इन के द्वारा किए गए भाषानुवाद में से पुराने छपे ८ व्याख्यानों के अनुवाद हमारे पास भी हैं। ये महानुभाव मारवाड़ राज्य में आर्यसमाज के उपदेशक भी रह चुके हैं। यु० मी०।

"पुनः एप्रिल १८७९ में जब कर्नल अलकाट स्वामी जी से मिले तो उनके अनुरोध करने पर स्वामी जी ने स्वजीवन वृत्त लिखने की प्रतिज्ञा की। एवम्, भाषा में लिखा कर समय समय पर भेजते रहे। वह वृत्त मासिक पत्र थ्यासोफिस्ट में नवम्बर वा दिसम्बर १८८० ई० में प्रकाशित हुआ। भाषा लिख कर स्वामी जी ने भेजी थी। उस की एक प्रतिलिपि श्री मथुराप्रसाद मन्त्री आर्य्यसमाज अजमेर और दूसरी पंडित छगनलाल श्रीमाली भूतपूर्व कामदार रियासत मसूदा (किशनगढ़) से प्राप्त हुई।"

अनेक समाचार पत्रों और "ख" के संपादक ने थ्यासोफिस्ट का ही अनुवाद किया। ४ अगस्त के व्याख्यान को किसी ने भी हाथ न लगाया और न किसी को उसका पता मिला।

"क्योंकि आदर्श पुस्तकें केवल तीन हैं-अर्थात् पूना व्याख्यान, थ्यासोफिस्ट पत्र और आर्य्यभाषा की कापी, अतः हम ने तीनों को बड़ी सावधानी से क्रमवार रखा है। उसमें एक २ अक्षर स्वामी जी का है परन्तु क्रम हमारा है।"

इस प्रकार समस्त पुस्तकें देख कर मैंने "क" को ही आदर्श पुस्तक समझा है। (क) में इस पुस्तक के पृ० २५ तक ऋषि के आर्य्य भाषा लेख से सहायता ली गई प्रतीत होती है। शेष का अधिक भाग (ख) से ही लिया गया है।

ऋषि दयानन्द अपने जीवन चरित्र को लिखना चाहते थे, यह उनके एक पत्र से प्रतीत होता है। उस पत्र में स्वामी जी लिखते हैं "यद्यपि मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरा स्वलिखित जीवन वृत्त जिसे आप अपने पत्र में प्रकाशित कर रहे हैं पूर्ण हो जाय पर अभी तक मैं उस के लिये यथोचित समय नहीं दे सका परन्तु

यथासंभव शीघ्र ही जीवन-कथा भेजूंगा ।" (थ्यासोफिस्ट एप्रिल १८८० ईस्वी, पृष्ठ १६०) । परन्तु अनेक कारणों से वे ऐसा न कर सके, यही प्रतीत होता है ।

"च" में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि थ्यासोफिस्ट के आङ्गलभाषा अनुवाद में अनेक लोग सन्देह करते हैं । परन्तु यहां सन्देह का कोई स्थान नहीं क्योंकि "क" के संपादक के पास वह यथार्थ कापी थी कि जिस का आङ्गल-भाषा अनुवाद किया गया । यदि कोई गड़बड़ होती, तो वे अवश्य लिखते ।

मैं ने अनुवाद में यथासंभव ऋषि की ही लेख-शैली का ध्यान रखा है । अनेक स्थलों पर उनके सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों को देखकर वैसे ही वाक्य रखे गये हैं । अतः अपनी ओर से भाषा को कांट छांट कर उसे नये ढग पर लिखने का प्रयत्न नहीं किया ॥

१५ चैत्र दयानन्दाब्द भगवद्दत्त

——:o:——

द्वितीय संस्करण का निवेदन ।

द्वितीय संस्करण में सत्यार्थ प्रकाशादि पुस्तकों को देख कर कई और शब्द शुद्ध किये गए हैं । थ्यासोफिस्ट का सारा अनुवाद मास्टर दुर्गाप्रसाद जी के आङ्गल भाषा में अनुवादित सत्यार्थ-प्रकाश में है । उस से भी मिलान किया गया है ॥

२० आषाढ़, ३४ । भगवद्दत्त

——:o:——

तृतीय संस्करण की भूमिका

संवत् १९७४ में बरेली नगर में श्रीमान् स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुझसे कहा था कि उनके पास ऋषि के स्वरचित जन्म-चरित्र की मूल प्रति थी। संन्यास धारण करते समय उन्हों ने वह लेख श्रीयुत प्रो० रामदेव जी को सौंप दिया था। वह हस्तलेख संवत् १९७४ के गुरुकुलोत्सव पर प्रो० रामदेव जी ने मुझे दे दिया। उस में हाथी मार्क के छः पृष्ठ हैं। प्रथम पांच पृष्ठों में से प्रत्येक पर २७ सत्ताईस पंक्तियां हैं। अन्तिम पृष्ठ पर १४ चौदह पंक्तियां हैं।

लेख बड़ा स्पष्ट है और प्रायः अक्षर श्री स्वामी जी के अक्षरों से मिलते हैं। यद्यपि लेख उनका नहीं है, पर पूर्ण निश्चय नहीं हो सका कि लेखक कौन है? कारण कि ऋषि के दो लेखकों के प्रायः अक्षर उनके अक्षरों से मिलते हैं।

पण्डित लेखराम जी ने लिखा है कि "वह वृत्त मासिक पत्र थ्यासोफिस्ट में नवम्बर वा दिसम्बर १८८० ई० में प्रकाशित हुआ।" यह बात ठीक नहीं। स्वामी जी के लेख का अनुवाद अक्तूबर १८७९, दिसम्बर १८७९ और नवम्बर १८८० ई० के थ्यासोफिस्ट में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। उनमें पूर्वोक्त हस्त-लेख प्रथम वार अर्थात् मास अक्तूबर १८७९ ई० का मूल है। इसकी समाप्ति हरद्वार कुम्भ की प्रथम यात्रा में होती है। पण्डित लेखराम जी ने पुनः लिखा है कि "उसमें एक एक अक्षर स्वामी जी का है।" इसका यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि यद्यपि

शब्द तो कई भाषा से उर्दू में किये गये हैं, परन्तु भाव स्वामी जी का ही है ।

प्रथम संस्करण की भूमिका में जो मैं ने यह लिखा था कि मैक्समूलर का कहना कि "आङ्ग्ल भाषा के अनुवाद में अनेक लोग सन्देह करते हैं" ठीक नहीं। वह अब सर्वथा सत्य प्रतीत होता है। थ्यासोफिस्ट के अक्तूबर १८७९ के अंक के एक टिप्पण में कुछ पंक्तियां मूल से उद्धृत की गई हैं। वे उस हस्तलेख से मिलती हैं, तथा अनुवाद भी इस के विरुद्ध नहीं । इस प्रकार थ्यासोफिस्ट के पुराने अंक देखने से यह सब निश्चय हुआ है।

इस संस्करण में जहां तक हस्तलेख मुझे मिला है, उस के शब्द जैसे के तैसे रख दिए गए हैं । पूना वाले व्याख्यान का भाग कोष्ठों में दिया गया है। इस विधि से स्वामी जी का लेख अपने शुद्ध रूप में सब पाठकों के प्रति पहुँच जायगा ।

आशा है आर्य्य लोग ऋषि जीवन की इन घटनाओं का पाठ करके अपने जीवनों को उन्नत करेंगे। परम दयालु परमात्मा अपने सच्चे भक्त के इन वृत्तों को सर्व संसार में फैलाए।

टिप्पण—इस ग्रन्थ में जहां दो कोष्ठों [[ ]] का चिह्न है, उनके अन्तर्गत पाठ का मूल न पूना व्याख्यान में है, और न श्री स्वामी जी के मूल हस्तलेख में प्रतीत होता है। ये पाठ पंडित लेखराम जी ने अपनी ओर से जोड़े हैं। जो पाठ एक कोष्ठ [ ] में है, वे सारे पूना व्याख्यान के हैं। दोनों प्रकार के कोष्ठ वहीं तक दिये गये हैं जहां तक कि मूल हस्तलेख मिला है । हां

एक अपवाद स्थान है। थ्यासोफिस्ट के दूसरे अङ्क में कुछ पंक्तियां टिप्पण में देवनागरी में छपी हैं। वे स्वामी जी के मूल की हैं। अनुवाद के भाग में इस मूल पाठ को कोष्ठ में दे दिया गया है। अभिप्राय यही है कि जितना मूल सुरक्षित हो जाये, उतना अच्छा है।

स्थान लाहौर, २२ मार्च, सोम, १९१९ } भगवद्दत्त

———

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

यह संस्करण तीसरे संस्करण का पुनर्मुद्रण है। कुछ टिप्पणियां कोष्ठों ( ) में नई जोड़ी गई हैं।

———

स्थान श्री बाबा गुरमुखसिंह जी का भवन अमृतसर २१—१—५१ } भगवद्दत्त

पंचम संस्करण

इस संस्करण में साधारण संशोधन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल कहीं २ अल्प विराम और पूर्ण विराम सुगमता के लिए लगाए हैं। टिप्पणियों में एक टिप्पणी श्री माननीय पण्डित जी को दिखा कर उनकी सम्मति से बढ़ाई है। तीन टिप्पणियां मैंने दी हैं। उन पर अपने नाम का संकेत कर दिया है।

सं० २०१५] युधिष्ठिर मीमांसक

षष्ठ संस्करण

यह संस्करण सुन्दर बड़े बढ़िया टाईप में दो रंगा, उत्तम कागज़ पर, $\frac{20 \times 30}{16}$ साइज़ में छापा गयाहै। शुद्ध छपवाने में पर्याप्त यत्न किया गया है। इस बार टाईटल पर बढ़िया दो रंगे सुन्दर बलाक चित्र सहित दिया गया है। साथ में ऋषि का सुन्दर बढ़िया चित्र पृष्ठ भी दिया गिया है। जिस से पुस्तक का रूप बहुत सुन्दर बना है। आशा है भारतीय जनता इस महान् पुरुष के जीवन चरित्र से, जिसका वर्णन उन्होंने स्वयं किया है, विशेष प्रेरणा प्राप्त करने का यत्न करेंगी।

२८ वैशाख सं० २०१६
११ मई १९५९

हंसराज कपूर
मन्त्री
श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट
अमृतसर
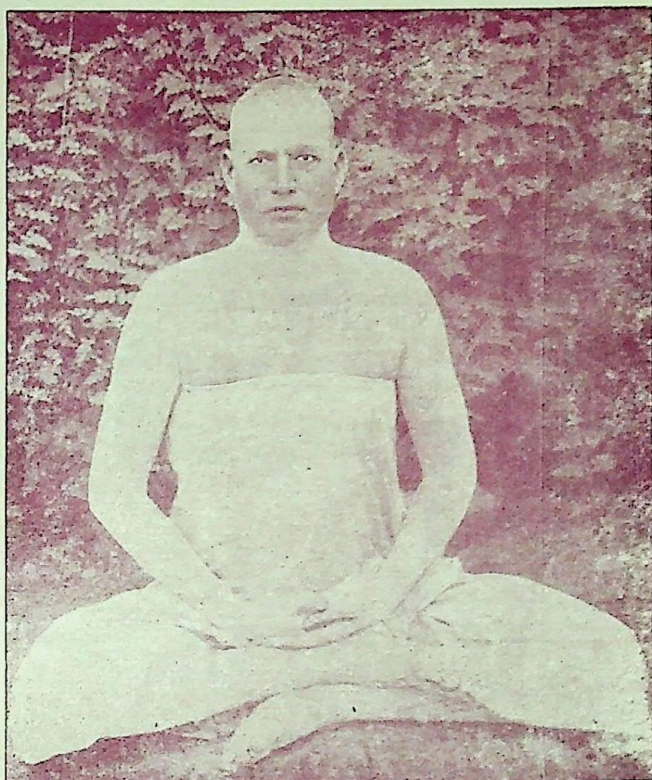
आदित्य ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द सरस्वती
यह चित्र खतौली जिला मुजफ्फर नगर निवासी
श्री मामराज सिंह जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।
श्री मामराज सिंह जी को यह सन १६२६ में मेरठ से प्राप्त
हुआ था। यह चित्र आर्य गजट लाहौर के संवत १६८३ के
ऋषि-अंक में भी छपा था।

ओ३म्

[विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥][1]

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्म-चरित्र लिखता हूँ।[2]

—:०:०—

[हम से बहुत लोग पूछते हैं, आप ब्राह्मण हैं हम कैसे जानें? आप अपने इष्ट मित्र भाई बन्धु के पत्र मंगा देवें अथवा किसी की पहचान बतावें, ऐसा कहते हैं। इस लिये अपना वृत्तान्त कहता हूँ। गुजरात देश में दूसरे देशों की अपेक्षा मोह-विशेष है। यदि मैं इष्ट मित्र, भाई बन्धु की पहचान दूँ, या पत्र-व्यवहार करूँ, तो मुझे बड़ी उपाधि होगी। जिन उपाधियों से मैं छूट गया हूँ, वही उपाधियाँ मेरे पीछे लग पड़ेंगी। यही कारण है कि पत्रादि मंगाने का यत्न नहीं करता।] पू० व्या०

[[प्रथम दिन से ही जो मैंने लोगों को अपने पिता

---

१. यह मन्त्र हम ने लिखा है।

२. श्री स्वामी जी महाराज के लिखाये हुए पत्रों में जन्मचरित्र का यह शीर्षक है। [देखो, पत्र व्यवहार. पृष्ठ १५६]

का नाम और अपने कुल का स्थान बताना अस्वीकार किया, इस का यही कारण है कि मेरा कर्त्तव्य मुझे इस बात की आज्ञा नहीं देता। यदि मेरा कोई सम्बन्धी मेरे इस वृत्त से परिचय पा लेता, तो वह अवश्य मेरे ढूंढने का प्रयत्न करता। इस प्रकार उन से दो चार होने पर मेरा उन के साथ घर जाना आवश्यक हो जाता १ सुतरां एक बार पुनः मुझे धन हाथ में लेना पड़ता अर्थात् गृहस्थ हो जाता। उन की सेवा शुश्रूषा भी मुझे योग्य होती। और इस प्रकार उन के मोह में पड़ कर सर्व सुधार का वह उत्तम काम जिस के लिये मैं ने अपना जीवन अर्पण किया है, जो मेरा यथार्थ उद्देश्य है, जिसके अर्थ स्वजीवन बलिदान करने की किञ्चित् सोच नहीं की और अपनी आयु को बिना मूल्य जाना और जिस के अर्थ मैं ने अपना सब कुछ स्वाहा करना अपना मन्तव्य समझा, अर्थात् देश का सुधार और धर्म्म का प्रचार, वह देश पूर्ववत् अन्धकार में पड़ा रह जाता।]]'

संवत् १८८१ के वर्ष में दक्षिण गुजरात प्राँत, देश

१ यह पाठ पूना व्याख्यान में भी नहीं है।

पू० व्या में ऐसा है–ध्राङ्गधरा करके गुजरात देश में एक राजस्थान है। उस का सीमान्तवर्ती मजोकठा नदी के तट पर मोर्वी एक नगर है।

काठियावाड़ के मजोकठा देश, मोर्वी का राज्य, औदीच्य ब्राह्मण के घर में मेरा जन्म हुआ था।[1] [यद्यपि औदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं, परन्तु मैं ने बड़ी कठिनता से शुक्ल यजुर्वेद पढ़ा था।]

(१८८६)[2] मैंने पाँचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था। और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता पिता आदि किया करते थे। [बहुत

---

१. सन् १८८७ में फतहगढ़ में "श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या" द्वितीय बार छपी थी। उस के लेखक थे, पं० गणेशप्रसाद। इस पुस्तक के अन्त में पं० ज्वालादत्त कृत निम्नलिखित श्लोक छपा है—

क्षोणीभाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वत्सरे य:
प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्य्ये।
मूलनासौ जननविषये शंकरेण परेण
ख्यातिं परापत् प्रथमवयसि प्रीतिदो सज्जनानाम् ॥१॥

२. ( ) कोष्ठक में दिए संवत् मूलपाठ में नहीं हैं। ऋषि दयानन्द का जन्म सं० १८८१ में हुआ, इतना निश्चित है। कुछ महानुभाव भाद्रपद में मानते हैं, कुछ सं० १८८१ के अन्त में, (हमारा यही मत है;देखिये पृष्ठ १५ की टिप्पणी)। यदि सं० १८८१ के अन्त में माना जाए तो यहां संवत् १८८६ चाहिए। इसी प्रकार अगले निर्देशों में एक एक वर्ष की वृद्धि जाननी चाहिये जो कर दी गई है। भाद्र मास के पक्ष में मुद्रित सम्वत् भी ठीक हो सकते हैं।

से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादिक भी कण्ठस्थ कराया करते थे ।]

(१८८९) फिर ८ आठवें वर्ष मेरा यज्ञोपवीत करा के गायत्री सन्ध्या और उस की क्रिया भी सिखा दी गई थी। और मुझ को यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था ।[1] [उसी वर्ष मेरी एक भगिनी का जन्म हुआ।] और मेरे कुल में शैव मत था, उसी की शिक्षा भी किया करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मट्टी का लिङ्ग बना के तूँ पूजा कर। और माता (मेरी कहा करती थी)[2] कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है। इससे पूजा कभी न हो सकेगी। पिता हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि कुल की रीति है। तथा कुछ २ व्याकरण आदि का विषय और वेद का पाठ-मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिता जी अपने साथ मुझको जहाँ तहाँ मन्दिर और मेल-मिलापों में ले जाया करते और यह भी कहा करते थे कि शिव की

१. तुलना करो—'मैंने अपने घर में कुछ वेद का पाठ और विद्या भी पढ़ी'। पत्र विज्ञापन पृष्ठ २१ (द्वि० संस्क०)।

२. मूल में इतना पाठ त्रुटित है। केवल 'मेरी' का मकार आधा पढ़ा जाता है।

उपासना सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार १४ चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ २ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था। और शब्दरूपावली आदि छोटे २ व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे।

(१८९६) जहाँ २ शिवपुराण आदि की कथा होती थी वहाँ पिता जी मुझ को पास बैठा कर सुनाया करते थे। घर में भिक्षाकी जीविका नहीं थी, किन्तु ज़िमींदारी और लेन देन से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिव पूजन का आरम्भ करा दिया था।

[मेरे पिता ने इस वर्ष मुझे शिवरात्रि के व्रत रखने को कहा परन्तु मैं उद्यत न हुआ।] जब शिवरात्रि आई तब (पिता ने) १३ त्रयोदशी के दिन कथा का माहात्म्य सुना के शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया था। [वह कथा मुझे बहुत प्रीतिकर लगी। तभी मैं ने उपवास का दृढ़ निश्चय कर लिया।] परन्तु माता ने मने किया था कि इससे व्रती नहीं रहा जायगा, तथापि पिता जी ने व्रत का आरम्भ करा ही दिया था।

[मेरे यहां नगर के बाहर एक बड़ा शिवालय है। वहाँ शिवरात्रि के कारण बहुत लोग रात्रि के समय जाते आते रहते हैं और पूजा अर्चा किया करते हैं।] और जब १४ चतुर्दशी की साम हुई तब बड़े २ बस्ती के रईस अपने पुत्रों के सहित मन्दिर में जागरण करने को गये। वहाँ मैं भी अपने पिता के साथ गया। और प्रथम प्रहर की पूजा करके पूजारि लोग बाहर निकल के सो गये। [दूसरे प्रहर की पूजा पूरी हो गई थी। १२ बजे के अनन्तर लोग जहाँ तहाँ मारे ओंघ के झूलने लगे और शनैः२ सब लेट गये। मैंने सुन रखा था कि सोने से शिवरात्रि का फल नहीं होता है। इस लिये अपनी आँखों में जल के छींटे मारके जगाता रहा। फिर पिता आदि सब सो गये।]

[इतने में ऐसा चमत्कार हुआ कि मन्दिर के बिल से एक ऊँदर[1] बाहर निकल कर पिण्डी के चारों ओर फिरने लगा। और पिण्डी के अक्षतादि ऊपर चढ़ कर भी खाने लगा। मैं तो जागता ही था, अतः मैंने सब

१. यह शब्द काठियावाड़ की भाषा का है। इसके अर्थ हैं चूहा। सत्यार्थप्रकाश में भी ऋषि ने इस शब्द का प्रयोग किया है। देखो तृतीयावृत्ति पृष्ठ ३२।

लीला देखी। उस समय मेरे चित्त में प्रकार २ के विचार उत्पन्न हुए और प्रश्न पर प्रश्न उठने लगे।] तब मुझको शंका हुई कि जिस की हमने कथा सुनी थी, वही यह महादेव है या अन्य? क्योंकि वह तो मनुष्य के माफक एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता, चलता, फिरता, खाता, पीता त्रिशूल हाथ में रखता, डमरू बजाता, वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है, इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था। [अतः चूहे की यह लीला देख मेरी बाल-बुद्धि को ऐसा प्रतीत हुआ कि जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े बड़े प्रचण्ड दैत्यों को मारता है, क्या उस में एक निर्बल चूहे को भगा देने की भी शक्ति नहीं?]

[ऐसे बहुत से तर्क मन में उठे।] तब पिता जी को जगा के पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा? तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है? तब मैं ने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है। वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा? और इस के ऊपर चूहे फिरते हैं। तब उन्होंने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं उन की मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं। अब

कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इस लिये पाषाणादि की मूर्ति बना के उन महादेव की भावना रख कर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता है। ऐसा सुन के मेरे मन में भ्रम हो गया कि इस में कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी। पिता से पूछा कि मैं अब घर को जाना चाहता हूँ। उन्हों ने कहा[1] कि सिपाही को साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदाचित् मत करना।

मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझ को भूख बहुत लगी है। [माता जी ने कहा "मैं तुझे पहले से ही कहती थी कि तुझ से उपवास न होगा, परन्तु तूने तो हठ किया" तब] माता ने कुछ मिठाई आदि दी [और कहा "तू पिता जी के पास मत जाइओ और न उनसे कुछ कहियो, अन्यथा मार खाएगा।"] उस को खाकर एक बजे पर सो गया। [दूसरे दिन आठ बजे उठा।]

पिता जी प्रातःकाल रात्रि के भोजन को सुन के बहुत गुस्से हुए कि तैंने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि वह कथा का महादेव नहीं था। इस की

१. मूल में कोष्ठगत पाठ त्रुटित है।

पूजा मैं क्यों करूँ ? मन में तो श्रद्धा नहीं रही, परन्तु ऊपर के मन पिता जी से फिर कहा कि मुझ को पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पढ़ सकूँ। तथा माता और चाचा आदि के समझाने से भी पिता शान्त हो गये कि अच्छी बात है पढ़ने दो। फिर निघण्टु, निरुक्त और पूर्व-मीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करते पढ़ता रहा और कर्मकाण्ड का विषय भी पढ़ता रहा।

मुझ से छोटी एक बहन फिर उस से छोटा एक भाई, फिर एक बहन और एक भाई हुए थे, अर्थात् दो बहन और दो भाई थे।

(१८९७) जब मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी, तब मुझ से छोटी १४ वर्ष की जो बहन थी, उस को हैज़ा हुआ। एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था, नौकर ने खबर दी कि उस को हैज़ा हुआ है। तब सब जने वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये। औषधि भी की तथापि चार घण्टे में उस का शरीर छूट गया। [मैं उस की शय्या के पास दीवार का आश्रय लेकर खड़ा रहा। जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही

प्रथम वार मनुष्य को मरते देखा था। इस से मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ।] सब लोग रोने लगे। मुझ को रोना तो नहीं आया परन्तु मेरे मन में भय उत्पन्न हुआ कि देखो संसार में कुछ भी नहीं। इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊँगा। इस लिये-ऐसा कुछ उपाय करना चाहिये कि जिससे मरण जन्म रूपी दुःखों से छूट कर मुक्ति हो। यह विचार मन में रक्खा। किसी से कुछ कहा नहीं।

[सब लोग रोते थे, परन्तु मेरी छाती में भय घुसने के कारण एक आंसू भी आँख से न गिरा। पिता जी ने पाषाण-हृदय कहा। मेरी माता जो मुझे प्यार करती थी, उसने भी ऐसा ही कहा।] [मुझे सोने के लिये कहा गया, परन्तु मुझे शाँति से निद्रा न आई। भला ऐसी अशाँति में निद्रा कहाँ? बार बार मैं चौंक पड़ता था और मन में नाना प्रकार के तरङ्ग उठते थे। हमारे देश की रीत्यनुसार मेरी बहिन के रोने के पाँच चार समय व्यतीत हो चुके, परन्तु मैं तो रोया नहीं। इस कारण बहुत लोग मुझे धिक्कार करने लगे।] [[जिस समय सारा कुटुम्ब रो रहा था, मैं मूर्ति के समान चुपचाप पृथक् खड़ा था। उस

समय मुझ को बहुत से मनुष्यों के जीवन जो संसार में अनित्य हैं, निरर्थक प्रतीत हुए, नाना प्रकार के संकल्प विकल्प अतीव शोक के साथ उत्पन्न हुए, और जान पड़ा कि संसार में कोई भी ऐसा नहीं जो निरदयी मृत्यु के ग्रास से बच जाय, निश्चय एक दिन उस मृत्यु से सामना करना पड़ेगा। उस समय मृत्यु के दुःख निवारणार्थ ओषधि कहाँ ढूँढता फिरूँगा? और मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त किस पर भरोसा करूँगा और कौन सा उपाय उस के लिए उचित है। सारांश यह कि उसी समय पूर्ण विचार कर लिया कि जिस प्रकार हो सके मुक्ति हस्तगत करूँ, जिस के द्वारा मृत्यु-समय के समस्त दुःखों से बचूं। अन्त को यह हुआ कि इस संसार से मेरा मन एक बार ही हट गया और उत्तम विचार करने में सन्नद्ध हो गया।]

(१९००) इतने में १९ उन्नीस वर्ष की अवस्था हो गई। तब जो मुझ से अतिप्रेम रखने वाले, बड़े धर्मात्मा, विद्वान् मेरे चाचा थे। [उन को विशूचिका ने आ घेरा। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उन की नाड़ी देखने लगे। मैं भी समीप ही बैठा हुआ था।

मेरी ओर देखते ही उन की आँखों से अश्रु पात होने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहाँ तक कि रोते २ मेरी आँखें फूल गईं। इतना रोना मुझे पूर्व कभी न आया था। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचा जी के सदृश एक दिन मरने वाला हूँ।] उन की मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ, कि संसार में कुछ भी नहीं। परन्तु यह बात माता पिता से तो नहीं कही। [अपने मित्रों और विद्वान् पण्डितों को पूछने लगा कि अमर होने का कोई उपाय मुझे बताओ। उन्होंने योगाभ्यास करने के लिए कहा। तब मेरे मन में आया कि अब गृहत्याग कर कहीं चला जाऊँ। किन्तु अन्य मित्र लोगों से कहा कि मेरा मन गृहस्थाश्रम करना नहीं चाहता [[मुझे निश्चय हो गया है कि इस असार संसार में कोई पदार्थ नहीं, जिस के अर्थ, जीने की इच्छा की जाय, वा किसी पर मन लगाया जावे।]] उन्होंने माता पिता से कहा। माता पिता ने विचारा कि इस का विवाह शीघ्र कर देना ठीक है। जब मुझ को मालूम हुआ कि ये २० बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे, तब मित्रों से कहा कि हमारे माता पिता को समझा दो कि अभी

मेरा विवाह न करें। फिर उन्होंने एक वर्ष जैसे तैसे विवाह रोका।

(१६०१) तब तक बीसवाँ वर्ष पूरा हो गया। मैंने पिता जी से कहा कि मुझे काशी में भेज दीजिए, जहाँ मैं व्याकरण, ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊँ। तब माता, पिता और सब कुटुम्ब वालों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे। जो पढ़ना हो सो यहीं पढ़ा कर। और तेरा अगले साल में विवाह भी होगा, क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता। और हम को अधिक पढ़ा के क्या करना है? जितना पढ़ा है, वही बहुत है। [[साथ ही माता जी ने यह भी कहा, "मैं खूब जानती हूँ कि विशेष पढ़े लोग विवाह करना अनुचित समझते हैं। और काशी चले जाने से विवाह में विघ्न होगा"।]] तब मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़ कर आऊँ, तब विवाह होना ठीक है, फिर माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। [[चुप हो गया, क्योंकि देखा कि विशेष आग्रह से काम बिगड़ता है और कभी कार्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि घर में मेरा मन

नहीं लगता था, यह देख पिता जी ने ज़िमींदारी का काम करने के लिए मुझे कहा. परन्तु मैंने उसे स्वीकार न किया।]]

फिर तीन कोश पर एक ग्राम में अपनी जिमींदारी थी, वहां एक अच्छा पण्डित था। माता पिता की आज्ञा लेकर उस पण्डित के पास जा के पढ़ने का आरम्भ कर दिया। और वहां के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर माता पिता ने बुला के विवाह की तैयारी करी। तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष पूरा हो गया।

[मेरे मन में तो घर छोड़ कर निकल जाने की थी, परन्तु ऐसी सम्मति कोई न देता था। जो सम्मति देता, वह लग्न करने की ही देता।] उस समय मैं ने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना यह लोग कदाचित् न छोड़ेंगे।

[[और न अब मुझे भविष्य में विद्योपार्जन की आज्ञा मिलेगी। और न माता पिता मेरे ब्रह्मचारी रहने पर प्रसन्न होंगे। तब मैंने अपने मन में सोच विचारकर यह निश्चय ठाना, कि अब वह काम करना चाहिये, जिस से

जन्म भर को इस विवाह के बखेड़े से बचूं । यह निश्चय मैंने किसी पर प्रकट न किया। एक मास में विवाह की तय्यारी भी होगई ।]][1]

फिर गुप चुप संवत् १९०३ के वर्ष में [शौच के बहाने एक धोती साथ लेकर] घर छोड़ के साम के समय भाग उठा । [और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूं ।]

(१९०३)—चार कोश पर एक ग्राम था, वहां जा के, रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठके १९ कोश चला । [और एक ग्राम में हनुमान् के मन्दिर में जा रहा ।] परन्तु प्रसिद्ध ग्राम, सड़क और जानकारों के ग्राम छोड़ के बीच २ में रोज चलने का आरम्भ किया । तीसरे दिन मैंने किसी राजपुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़ कर चला गया । उसको खोजने के लिए सवार और पैदल आदमी यहां तक आये थे । जो मेरे पास थोड़े

---

१. सं० १९०३ के अन्त में उनकी आयु का २२वां वर्ष आरम्भ हो गया था । सो उनका जन्म अनुमान से सं० १८८१ के अन्त में हुआ होगा अर्थात् उसका एक आध मास या कुछ दिन शेष होंगे । माघ या फाल्गुन होगा । ऐसा निश्चित होता है ।

से रुपये अंगूठी आदि भूषण था, वह सब पापों ने ठग लिया, कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होगे कि जब अपने पास की चीज़ सब पुण्य कर दोगे। उन के कहने से मैं ने सब दे दिया। [[इसका वृत्तांत यूं है, कि]] [मार्ग में एक वैरागी ने एक मूर्ति जमा रक्खी थी "हाथ में सोने की अंगूठियां डाल कर वैराग्य सिद्धि कैसे हो सकती है ?" ऐसा मुझे चिढ़ा कर मेरी ओर से वह तीनों अंगूठियां उस ने मूर्ति के समर्पण करा लीं।]

फिर लाला भगत् का स्थान जो कि सायले शहर[1] में है, वहां बहुत साधुओं को सुन कर चला गया। एक ब्रह्मचारी मिला, उस ने कहा कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ। उस ने मुझ को ब्रह्मचारी की दीक्षा (दी) और शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी मेरा नाम रक्खा। और काषाय वस्त्र भी करा दिये। [[और हाथ में एक तूम्बा दे दिया। ऐसे मैं उन के थोक में मिल गया।]] [और वहीं योग साधन करने लगा। रात्रि को जब एक वृक्ष के नीचे बैठा था, ऊपर पक्षियों ने घूं २ करना आरम्भ किया। यह सुनकर मुझे भूत का भय लगा। और मैं पीछे मठ में

१. यह ग्राम अहमदाबाद मोरवी रेलवे के मोली स्टेशन से ४ कोस और आर्य्य समाज रानपुर से ११ कोस है।

आगया।] जब मैं वहां से अहमदाबाद के पास कोठकांगड़ा जो कि छोटासा राज्य है, वहां आया। [वहां बहुत से वैरागी थे। और कहीं की राणी भी उन के फंदे में फंसी हुई थी। उन्होंने मेरे वेश को देखकर ठट्ठा करना प्रारम्भ किया। तथा मुझे अपने में फांसने लगे परन्तु मैं उनके फंदे से छूट कर भागा। रेशमी किनारा की धोतियां उन्हीं वैरागियों के कहने से वहां फैंक दीं। केवल तीन रुपये पास थे, उन्हें व्यय कर सादी धोतियां लीं। वहां ब्रह्मचारी नाम से प्रसिद्ध रहा। मैं वहां तीन मास रहा था।]

[कोठकाङ्गड़ा में मैं ने सुना, कि सिद्धपुर में कार्त्तिक का मेला होता है। वहां कोई तो योगी अपने को मिलेगा और अमर होने का मार्ग बतावेगा, इस आशा से मैं ने सिद्धपुर का मार्ग लिया। मार्ग में मुझे] तब मेरे ग्राम के पास का जान पहचान वाला एक वैरागी मिला। उसने पूछा कि तुम यहां कहां से आये और कहां जाया चाहते हो? तब मैं ने उस से कहा कि घर से आया और कुछ देश भ्रमण किया चाहता हूँ। उसने कहा कि तुम ने काषाय वस्त्र क्यों धारण किए? क्या घर छोड़ दिया?

मैंने कहा कि हां, मैंने घर छोड़ दिया और मैं कार्त्तिकी के मेले पर सिद्धपुर[1] को जाऊँगा। फिर मैं वहां से चल के सिद्धपुर में आकर नीलकण्ठ महादेव के स्थान में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी और बहुत ब्रह्मचारी ठहरे थे। उनका सत्संग और जो २ कोई महात्मा वा पण्डित मेला में सुन पड़ा, उन २ से जाकर मेल मिलाप किया। कोठकाङ्गड़ा में जो मुझ को वैरागी मिला था, उस ने मेरे पिता के पास एक पत्र भेजा कि तुम्हारा लड़का काषाय वस्त्र धारण किये ब्रह्मचारी हुआ यहां मुझ को मिल कर कार्त्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया।

ऐसा सुन कर पिता जी [चार] सिपाहियों के सहित सिद्धपुर में आकर मेले में मेरा पता लगा के [मन्दिर में] जहां पण्डितों के बीच में मैं बैठा था [एकाएक] वहां पहुँच कर मुझ से बोले कि तूँ हमारे कुल में कलंक लगाने वाला उत्पन्न हुआ। [देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा।] तब मैं पिता जी की ओर देख कर [इस भय से कि पिता मुझ को मारेंगे] उठ के चरण छू कर नमस्कार किया और मैं बोला कि आप क्रोधित मत

१. सिद्धपुर रेलवे स्टेशन है। वहां सरस्वती नदी के तट पर कार्तिक का मेला होता है। वहीं औदीच्य ब्राह्मणों के पुत्रों का मुण्डन होता है।

हूजिये। मैं किसी आदमी के बहकाने से चला आया और अत्यन्त दुःख पाया। अब मैं घर को आने वाला था, परन्तु आप आये यह बहुत अच्छा हुआ। अब मैं साथ २ घर को चलूंगा। तो भी क्रोध के मारे मेरे गेरू के रंगे वस्त्रों और एक तूम्बा था, उस को तोड़ फोड़ के फेंक दिया और दूसरे नवीन श्वेत वस्त्र धारण करा के जहां ठहरे थे, वहां मुझ को ले गये। और वहां भी बहुत कठिन २ बातें कह कर बोले कि तू अपनी माता की हत्या किया चाहता है। मैंने कहा कि मैं अब चलूँगा। तो भी मेरे साथ [दो] सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इस को पृथक् मत छोड़ो। और इस पर रात्रि को भी पहरा रक्खो। परन्तु मैं भागने का उपाय सोचता था। [रात को जहां मैं सोता था एक सपाही मेरे सिरहाने बैठा जागता रहता था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊँ। इसी लिए मैं यह जानने के लिए कि सिपाही रात को सोता है या नहीं, स्वयं जागता रहा। सिपाही को तो यह निश्चय हो जाता कि मैं सो रहा हूँ। इसी लिए मैं नाक से खुरांटे भरने लगता था।]

सो जब तीसरी रात्रि[१] के तीन बजे पीछे पहरे वाला बैठा बैठा सो गया। उसी समय वहाँ से मैं लघुशंका के बहाने से भाग के आध कोस पर एक बगीचे के मन्दिर की शिखर में एक वृक्ष के सहारे से चढ़के जल का लोटा साथ ले के छिप कर बैठ गया। जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं में से एक सिपाही मालियों से मुझ को पूछता सुना। तब मैं और भी छिप गया। वे लोग ढूंढ कर चले गए। मैं उसी मन्दिर की शिखर में दिन भर रहा।

जब अंधेरा हुआ तब [रात्रि के सात बजे] उस पर से उतर कर, सड़क छोड़ के, किसी से पूछकर दो कोश एक ग्राम था, वहां जा कर ठहरा। प्रातःकाल वहां से चला। [यही अपने ग्राम के या घर के पुरुषों का अन्तिम दर्शन कहा जावे तो, अन्यथा नहीं। इसके पश्चात् एक बार प्रयाग में मेरे ग्राम के कुछ लोग मुझे मिले थे, परन्तु मैंने पहचान नहीं दी। तत्पश्चात् आज तक किसी

१. पू० व्या०में आगे ऐसा है–'इस प्रकार तीन रात जागना पड़ा। चौथी रात सिपाही को नींद आ गई।' यहां सम्भवतः सिद्धपुर में रहने की रात्रि भी गिनी गई है। हस्तलेख वाले पाठ में यह नहीं गिनी गई।

से मेल नहीं हुआ।][1]

अहमदाबाद से होता हुआ बड़ोदरे शहर में आकर ठहरा। और (वहां) चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारियों और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें कीं। और मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् जीव ब्रह्म एक है, मुझको ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने करा दिया। पहले वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ २ निश्चय हो गया था, परन्तु वहाँ ठीक २ दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ।[2]

फिर वहीं वड़ोदे में एक बनारसी बाई वैरागी का स्थान सुन कर, वहां जाके एक सच्चिदानन्द परम हंस से

---

१. कार्तिक में सिद्धपुर आए। तीन मास कोठकाङ्गड़ा में रहे, तथा प्राय: एक मास तक लाला भक्त के ग्राम सायला में रहे। पांच सात दिन का यह सारा मार्ग है। अतः यह प्रतीत होता है कि स्वामी जी १९०३ विक्रम ज्येष्ठ के अन्त अर्थात् मई १८४७ को घर से निकले थे। [अथवा हो सकता है, इस से कुछ पहले घर से प्रस्थान किया हो। यु०मी०]

२. अहमदाबाद' से 'ब्रह्म हूँ।' तक का पाठ थ्यासोफिस्ट के टिप्पण में देवनागरी में छपा है। वहां कुछ छपने की ही अशुद्धि है। पाठ यही है। उस पाठ में द्वितीय पंक्ति का "और" पद नहीं, प्रत्युत कोष्ठगत "वहां" है, तथा चतुर्थ पंक्तिस्थ" पांचवीं पंक्ति वाले "करा" से पहले है।

भेंट कर के अनेक प्रकार की शास्त्रविषयक बातें हुईं। फिर मैंने सुना कि आजकल चाणोदकन्याली में बड़े २ संन्यासी, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण विद्वान् रहते हैं। वहाँ जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी, ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर संलाप हुआ। और एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार, आर्य्यहरिमीडे-तोटक, वेदान्तपरिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े महीनों-में विचार कर लिया।

फिर मैं ने, ब्रह्मचर्य्य में कभी २ अपने हाथ रसोई बनाने से पढ़ने में विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास ले लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा जो वहां चिदाश्रम स्वामी विद्वान् थे, उन से कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये। क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था, क्योंकि घर का भय बड़ा था। जोकि अब तक है।

तब उन्हों ने कहा कि उस की अवस्था कम है इस लिये हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महीने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोश भर मकान जो कि जंगल में

था, उस में आकर ठहरे। उस को सुन कर एक दक्षिणी वेदान्ती पण्डित और मैं दोनों उन के पास जाकर शास्त्री[1] में उन से सँभाषण किया। तब मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् हैं। और वे शृङ्गेरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते और उन का नाम परमानन्द सरस्वती था। उन से उस वेदान्ती के द्वारा कहलाया कि आप से यह ब्रह्मचारी विद्या पढ़ा चाहते हैं और किसी प्रकार का अपगुण इन में नहीं, यह मैं ठीक जानता हूँ। इन को आप संन्यास दे दीजिये। संन्यास लेने का इन का प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्हों ने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो, क्योंकि हम तो महाराष्ट्र हैं। तब उन से कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं, तो यह ब्रह्मचारी द्रविड़ है इस में क्या चिंता है? तब उन्होंने मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास की दीक्षा तथा दण्ड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा। परन्तु दण्ड को विसर्जन भी मैंने उन्हीं स्वामी जी के साम्हने कर दिया क्योंकि दण्ड की भी बहुत क्रिया है कि जिस से पढ़ने में विघ्न हो सकता था। फिर वे द्वारिका की ओर

१. अर्थात् संस्कृत में। यु०मी०।

को चले गये। मैं कुछ दिन चाणोदकन्याली में रहकर व्यासाश्रम में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं। उनके पास जाके योगाभ्यास की क्रिया सीख के एक कृष्ण शास्त्री छिनौर शहर के बाहर रहते थे, उन को सुन के व्याकरण पढ़ने के लिये उन के पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास कर के फिर चाणोदकन्याली में आकर ठहर रहा। वहां दो योगी मिले कि जिन का नाम ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि था। उनसे योगाभ्यास की बातें हुई। और उन्हों ने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ, वहां हम नदी ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे, वहां तुम आओगे तो तुम को योगाभ्यास की रीति सिखलावेंगे। वहां से वे अहमदाबाद को चले गये। फिर एक महीने के पीछे मैं भी अहमदाबाद में आ के उन से मिला और योगाभ्यास की रीति सीख के आबूराज पर्वत में योगियों को सुन वहां जाके अर्बुदा भवानी आदि स्थानों में भवानीगिरी आदि योगियों से मिलके कुछ और योगाभ्यास की रीति सीख के संवत् १९११ के साल के अन्त में हरद्वार को कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा तब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगा-

भ्यास करता रहा। जब मेला हट चुका तब हृषीकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा।[1]

तत्पश्चात् कुछ दिनों तक अकेला हृषीकेश में रहा। इस अन्तर में एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मुझ से आ मिले। पुनः हम सब के सब टिहरी स्थान को चले गये। यह स्थान विद्या वृद्धि के कारण साधुओं और राज पण्डितों से पूर्ण और प्रसिद्ध हैं। उन पण्डितों में से एक दिन एक पण्डित ने अपने हां मेरा निमन्त्रण किया और निश्चित समय पर एक पुरुष भी बुलाने को भेजा। उन के साथ मैं और ब्रह्मचारी दोनों उन के स्थान पर पहुंचे। परन्तु मुझ को वहां एक पण्डित को मांस काटते और बनाते देख अत्यन्त घृणा आई। आगे जाकर बहुत पण्डितों को मांस और अस्थियों के ढेर और जानवरों के भुने हुए सिरों पर काम करते देखा। इतने में ही गृह-स्वामी ने प्रसन्नता पूर्वक हम से कहा, कि भीतर चले

१. मूलहस्तलेख यहां समाप्त हो जाता है। थ्यासोफिस्ट मास अक्तूबर १८७९ में यहीं तक का अनुवाद छपा है। अगले वाक्य से दिसम्बर सन् १८७९ के अनुवादरूप अंग्रेजी लेख का पुनः अनुवाद मात्र है।

आइये। मैंने कहा कि आप अपना काम करें जाइये। मेरे लिये कुछ कष्ट न कीजिये। यह कह झट वहां से निकल उलटे पांव अपने स्थान का मार्ग लिया। कुछ काल पीछे वही मांस-भक्षी पण्डित मेरे पास आया, और मुझ से निमन्त्रण में चलने को कहा। और साथ ही यह भी कहा कि यह मांसादि उत्तम भोजन केवल आप ही के लिए बनाये गये हैं। मैं ने उस से स्पष्ट कह दिया कि यह सब वृथा और निष्फल हैं, क्योंकि आप मांस-भक्षी हैं। मेरे योग्य तो केवल फल आदि हैं। मांस खाना तो दूर रहा, मुझे तो उस के देखने से ही रोग हो जाता है। यदि आप को मेरा न्यौता करना ही है, तो और कुछ अन्न फलादि वस्तु भिजवा दीजिए। मेरा ब्रह्मचारी यहां पर भोजन बना लेगा। इन सब बातों को उक्त पण्डित स्वीकृत कर और लज्जित हो अपने घर लौट गया।

तत्पश्चात् मैं कुछ दिन तक स्थान टिहरी में रहा और उन्हीं पण्डित जी से कुछ पुस्तकों और ग्रन्थों का वृत्तान्त, जिन्हें मैं देखना चाहता था, पूछा किया। और पता लगाता रहा कि यह ग्रन्थ इस नगर में कहां मिल सकते हैं। यह सुन पण्डित जी ने संस्कृत व्याकरण,

कोष जो बड़े बड़े कवियों के बनाए हुए, ज्योतिष और तंत्रादि पुस्तकों का नाम लिया । इन में से तंत्र की पुस्तकें मेरी देखी हुई नहीं थीं । इसलिये उन से मांगीं । [तब उन्होंने छोटे बड़े ग्रन्थ मुझ को दिये, मैंने देखे तो बहुत भ्रष्टाचार की बातें उन में देखीं कि माता, कन्या, भगिनी, चमारी, चांडाली आदि से संगम करना, नग्न कर के पूजना, मद्य, मांस, मच्छी, मुद्रा अर्थात् ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्यन्त एकत्र भोजन करना, उक्त स्त्रियों से मैथुन करना, इन पाँच मकारों से मुक्ति का होना, आदि लेख उन में देख के चित्त को खेद हुआ कि जिन ने ये ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्ट-बुद्धि थे ।][1]

तदनन्तर मैं वहां से श्रीनगर को चल पड़ा । यहां मैं ने केदारघाट पर एक मन्दिर में निवास किया । यहां के पण्डितों से जब कभी वार्त्तालाप करते समय वादानुवाद होता, तो उन को उन्हीं तन्त्रों से हरा देता था । यहां पर एक गङ्गागिरि नामक साधु से (जो कभी दिन के समय अपने पहाड़ से, जो एक जंगल में था, नहीं उतरता था) भेंट हुई, और विदित हो गया कि यह एक अच्छा विद्वान् है । थोड़े दिन पश्चात् मेरी उसकी मैत्री भी हो गई ।

१. कोष्ठगत पाठ थ्यासोफिस्ट के टिप्पणमें देवनागरी में छपा है ।

सारांश यह है कि जब तक मेरा उस का साथ रहा, योग-विद्या और अन्य उत्तम विषयों पर परस्पर बात चीत होती रही, और प्रति दिन के तर्क वितर्कों से यह बात सिद्ध हो गई कि हम दोनों साथ रहने योग्य हैं। मुझे तो उस की सङ्गति ऐसी अच्छी लगी, कि दो मास से अधिक उस के साथ रहा।

उसके पश्चात् ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में अपने साथियों अर्थात् ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओं सहित केदारघाट से दूसरे स्थानों को चला। और रुद्रप्रयाग आदि स्थानों में होता हुआ अगस्त्य मुनि की समाध पर पहुँचा। आगे चलकर उत्तर की ओर एक पहाड़ पर जो कि शिवपुरी नाम से प्रसिद्ध है, गया। यहां शरद् ऋतु के चार मास व्यतीत किये। पुनः ब्रह्मचारी और दोनों साधुओं से पृथक् होकर एकाएकी विना खटके में केदार-घाट को लौट गया। फिर गुप्तकाशी में पहुँचा। यहां बहुत कम ठहरा, अर्थात् गौरीकुण्ड और भीमगुफा होता हुआ त्रियुगी नारायण के मन्दिर पर पहुंचा परन्तु थोड़े ही दिनों में केदारघाट को; जहां का निवास मुझे अति प्रिय था, लौट आया और वहां निवास किया और कतिपय ब्राह्मण पूजारियों और केदारघाट के मन्दिरो के पण्डों के साथ

(जो जङ्गम जाति के थे) रहा किया। जब तक मेरे पहले साथी अर्थात् ब्रह्मचारी और दोनों साधु भी यहां आ गये। वहां के पण्डितों और ब्राह्मणों की करतूतों को मैं सदा दत्तचित्त हो देखता और स्मरणार्थ उनकी स्मरण करने योग्य बातों को ध्यान करता था। जब मेरा उन वृत्तान्तों से यथोचित परिचय हो गया, तो मेरे मन में निकटवर्त्ती पर्वतों के भ्रमण की इच्छा हुई जो सदा हिमाच्छादित रहते हैं। यह सोच कि देखूँ और उन महात्माओं के दर्शन करूं जिन का समाचार सुनता चला आता था, किन्तु कभी भेंट नहीं हुई। अतः मैंने यह सुदृढ़ निश्चय कर लिया कि कुछ ही क्यों न हो, इस बात का अवश्य अनुसन्धान करना चाहिये कि वे महात्मा लोग जैसा कि प्रसिद्ध है, वहां रहते हैं या नहीं। परन्तु पर्वतीय यात्रा की भयानक कठिनाइयों और शरद् ऋतु की अतिमात्रा से प्रथम मुझ को पहाड़ी लोगों से पता करना पड़ा कि वे उन महात्मा पुरुषों के वृत्तान्त से कुछ परिचित हैं, या नहीं। परन्तु दैवयोग कि जहां पूछा, वहीं या तो केवल अनभिज्ञता या मिथ्या विश्वास से पूर्ण गप्प हांक दी। फलतः २० दिन तक वृथा पर्यटन और निरुत्साहित फिर कर, जिस प्रकार कि एकाएक गया था, वैसे ही लौटा, क्योंकि

मेरे साथी तो दो तीन दिन पहले अति शीत के भय से मुझे अकेला छोड़ कर चले गये थे।

तत्पश्चात् मैं तुङ्गनाथ की चोटी पर चढ़ा। वहां पर एक मन्दिर पुजारियों और मूर्तियों से भरा पाया। मैं उसी दिन वहां से उतर आया, जहां पर मुझे दो मार्ग मिले। जिन में एक पश्चिम की ओर, दूसरा नैर्ऋत्य को जाता था। तब मैं उस मार्ग को जो जङ्गल की ओर था, झुक पड़ा। कुछ दूर तक चल कर मेरा गमन एक ऐसे घने वन में हुआ, जहां के शैल खण्ड वण्ड और नाले भी शुष्क और वहां से आगे को मार्ग भी न चलता था। जब मैं इस प्रकार घिर गया तो मन में सोचने लगा कि अब नीचे उतरना चाहिये या और ऊपर चढ़ना चाहिये। पर चोटी की उच्चता और मार्ग की कठिनता के विचार से मैं ने सोचा कि पर्वत की चोटी पर चढ़ना असम्भव है। अतः यथा तथा शुष्क घास और सूखी झाड़ियों को पकड़ पकड़ कर मैं नाले के ऊँचे तट पर पहुँचा। और एक शैल पर खड़े होकर जो चारों ओर दृष्टि की तो मुझ को अगम्य पहाड़ियों, टीलों और जङ्गल के अतिरिक्त, जिस में मनुष्य का गमन असम्भव था अन्य कुछ दिखाई न पड़ा। क्योंकि उस समय

सूर्य भी अस्त होने वाला था, मुझ को चिन्ता हुई कि इस सुन्सान निर्जन वन में विना पानी, और ऐसे पदार्थ के जो जल सके, मेरी क्या दशा होगी ? फलतः मुझे उस विकट जङ्गल में ऐसे २ स्थानों में घूमना पड़ा कि जहां के बड़े २ कांटों में उलझ उलझ कर वस्त्रों की धज्जियां उड़ गईं और शरीर भी क्षत हो गया, और पांव भी लंगड़े हो गए। अन्त को बड़ी कठिनता, दुःख और संकट के साथ उस मार्ग को पूरा करके पर्वत के नीचे पहुंचा। और अपने आप को साधारण पथ पर पाया। उस समय रात्रि का अन्धकार सब ओर छा रहा था। मुझे इस कारण अनुमान से मार्ग अन्वेषण करना पड़ा, परन्तु मैं ने प्रसिद्ध मार्ग से पृथक् न होने का बहुत ही ध्यान रखा। अन्त को ऐसे स्थान पर पहुंचा जहां कतिपय पर्णकुटियां दिखाई पड़ीं। वहां के मनुष्यों से ज्ञात हुआ कि यह मार्ग ऊखी-मठ को जाता है। यह सुनकर मैं उस ओर चल पड़ा। रात ऊखी-मठ में व्यतीत की। प्रातः जब मैं भले प्रकार आराम कर चुका था। वहां से गुप्तकाशी को लौटा अर्थात् जिस स्थान से मैं उत्तर की ओर चला था। परन्तु इस यात्रा की अभिलाषा मुझे पुनः ऊखी मठ को ले गई, ताकि वहां की कन्दराओं के रहने वालों

के वृत्त जानूं। सो वहां पहुँच कर मुझे ऊखीमठ के देखने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ, जो कि आडम्बरयुक्त और पाखण्डी साधुओं से भरा हुआ था। यहां के बड़े महन्त ने मुझे अपना चेला करने का मनोगत किया। उस ने इस बात की दृढ़ता के लिये भी मुझे प्रलोभन दिखाया, कि हमारी गद्दी के तुम स्वामी होगे। और लाखों रुपये की पूञ्जी तुम्हारे पास होगी। मैंने उन को निस्पृह यह उत्तर दिया कि यदि मुझे धन की लालसा होती तो मैं अपने पिता की सम्पत्ति को, जो तुम्हारे इस स्थल, धन धान्य से कहीं बढ़ कर थी, न छोड़ता। किंच मैंने यह भी कहा कि जिस उद्देश्य के लिये मैंने घर छोड़ा, और सांसारिक ऐश्वर्य से मुख मोड़ा; न तो मैं उस के लिये तुम्हें यत्न करते देखता हूँ, और न तुम्हें उसका ज्ञान ही प्रतीत होता है। पुनः तुम्हारे पास मेरा रहना कैसे सम्भव हो सकता है? यह सुन कर महन्त ने पूछा कि वह कौन सा उद्देश्य है जिस की तुम्हें जिज्ञासा है, और तुम इतना परिश्रम उठा रहे हो। मैं ने उत्तर दिया कि मैं सत्य योगविद्या और मोक्ष (जो विना अपनी आत्मा की पवित्रता और सत्य न्याय आचरणों के नहीं प्राप्त हो सकता) चाहता हूँ। और जब तक यह अर्थ सिद्ध न होगा, तब

तक बराबर अपने देश वालों का उपकार जो मनुष्य पर कर्त्तव्य है, करता रहूँगा। यह सुन कर महन्त ने कहा "यह बहुत अच्छी बात है, कुछ दिन और तुम हमारे पास ठहरो।" परन्तु मैं ने उस की बात का कुछ भी उत्तर न दिया, क्योंकि मैं जान गया कि यहां कुछ पूर्ति न होगी। सो दूसरे दिन प्रातःकाल उठा और वहां से जोशीमठ को चल दिया।[1]

वहां कुछ दिनों दक्षिणी महाराष्ट्रों और संन्यासियों के साथ जो संन्यासाश्रम की चतुर्थ श्रेणी के सच्चे साधु थे, रहा, और बहुत से योगियां और विद्वान् महन्तों और साधुओं से भेंट हुई और उन से वार्त्तालाप में मुझ को योगविद्या सम्बन्धी और बहुत नई बातें ज्ञात हुईं।

उन से पृथक् होकर पुनः मैं बद्रीनारायण को गया। विद्वान् "रावलजी"[2] उस समय उस मन्दिर का मुख्य महन्त था। और मैं उस के साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद विवाद रहा।

---

१. थ्यासोफिस्ट मास दिसम्बर १८७९ का पाठ यहां समाप्त होता है। अगले वाक्य से नवम्बर १८८० का पाठ चलता है।

२. यह नाम तथा पूर्वोक्त स्थानों का वर्णन सत्यार्थप्रकाश में भी आया है। देखो तृतीयावृत्ति पृ० ३२६

जब उनसे मैं ने पूछा कि इस परिस्थिति में कोई विद्वान् और सच्चा योगी भी है या नहीं, तो उसने यह जताने में बड़ा शोक प्रकट किया इस समय इस परिस्थति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उस ने बताया कि मैं ने सुना है कि प्रायः ऐसे योगी इसी मन्दिर के देखने के लिए आया करते हैं। उस समय मैं ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया, कि समस्त देशों में और विशेषतः पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूंगा। एक दिन सूर्योदय के होते ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुँचा। मेरे मन में उस नदी के पार करने की किंचित् इच्छा न थी। क्योंकि मैं ने उस नदी के दूसरी ओर एक-बड़ा ग्राम 'मांस'[1] नामक देखा, अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रख कर नदी के वेग के साथ २ मैं जंगल की ओर हो लिया। पर्वत, मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुए थे। और बहुत घनी हिम उन के ऊपर थी। अतः अलखनन्दा नदी के स्रोत तक पहुँचने में मुझ को अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े। परन्तु जब मैं वहां गया तो अपने आप को सर्वथा अपरिचित और अजान जाना

१. इसका शुद्ध नाम "माना" है।

और अपने चारों ओर ऊंची २ पहाड़ियां देखीं, तो मुझे आगे जाने का मार्ग बन्द दिखाई दिया। कुछ ही काल पश्चात् पथ सर्वथा लुप्त हो गया, और उस मार्ग का मुझ को कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच वा चिन्ता में था कि क्या करना चाहिये? अन्ततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ मैं ने नदी को पार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुए वस्त्र बहुत हलके और थोड़े थे और शीत अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुआ कि उस का सहन करना असम्भव था! क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो मैं ने एक हिम का टुकड़ा खा कर उस को बुझाने का विचार किया, परन्तु उस से किंचत् आराम वा सन्तुष्टि प्रतीत न हुई। पुनः मैं नदी में उतर उसे पार करने लगा।

कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी और कहीं पानी बहुत कम था! परन्तु एक हाथ या आध गज से कम गहरा कहीं न था। किन्तु विस्तार अर्थात् पाट में दस हाथ तक था अर्थात् कहीं से चार गज और कहीं से पांच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्हों ने मेरे पांव को अति घाव-युक्त कर दिया सो मेरे नग्न पांव से रक्त बहने लगा। मेरे पांव शीत के

कारण नितान्त सन्न हो गए थे । जिस कारण मैं बड़े बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा । इस स्थान पर अति शीत के कारण मुझ पर अचेतनता सी छाने लगी । यहां तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिम पर गिरने को था, जब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहां पर इसी प्रकार गिर गया, तो पुनः यहां से उठना मेरे लिये अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा । एवं दौड़ धूप करके जैसे हुआ मैं प्रबल प्रयत्न करके वहां से कुशल मंगल-पूर्वक निकला और नदी के दूसरी ओर जा पहुंचा । वहां जा कर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही, जो जीवित की अपेक्षा मृतवत् थी, तथापि मैंने अपने शरीर के उपरिभाग को सर्वथा नंगा कर लिया और अपने समस्त वस्त्रों से, जो मैं ने पहने हुए थे जानु वा पांव तक जंघा को लपेट लिया । और वहां पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घबराया हुआ आगे को हिल सकने और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया । इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले, जिस से मैं आगे को चलूँ । परन्तु इस बात की कोई आशा न थी कि वह आवेगी कहाँ से ? सहायता की आशा में था, परन्तु सर्वथा विवश था और जानता था कि कोई सहायता का

स्थान दिखाई नहीं देता। अन्त को पुनः एक बार मैं ने अपने चारों ओर दृष्टि की और अपने संमुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुए देखा जो मेरे समीप आए और अपने काश-सतम्भ से मुझ को प्रणाम कर के उन्हों ने अपने साथ घर जाने के लिए मुझे बुलाया। और कहा "आओ, हम तुम को वहां खाने को भी देवेंगे।" जब उन्हों ने मेरे क्लेशों को सुना और मेरे वृत्त को श्रवण किया, तो कहने लगे "हम तुम को सिद्धपत पर भी (जो एक तीर्थ स्थान है) पहुँचा देवेंगे।" परन्तु उनका मुझ को यह सब कहना अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया और कहा "महाराज शोक! मैं आप की यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मुझ में चलने की किंचत् शक्ति नहीं है।" यद्यपि उन्हों ने मुझ को बहुत आग्रहपूर्वक बुलाया और आने के लिए अत्यधिक अनुरोध किया, तथापि मैं वहीं अपने पांव जमाये खड़ा रहा और उन की आज्ञा वा इच्छानुकूल मैं उन के पीछे चलने का साहस न कर सका। मैं ने उन से कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूं। ऐसा कहकर मैं ने उन की बातों की ओर ध्यान करना भी बन्द कर दिया अर्थात् पुनः उन्हें न सुना। उस समय

मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मैं लौट जाता और अपने पाठ को स्थिर रखता। इतने में वह दोनों सज्जन वहां से चले गये और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गये। वहां जब मुझे शांति प्राप्त हुई तो मैं भी आगे को चला और कुछ काल वसुधारा (प्रसिद्ध तीर्थ वा यात्रा स्थान) पर विश्राम करके मंग्रम[1] के निकट-वर्त्ती प्रदेश से होता हुआ उसी सायं लगभग आठ बजे बद्रीनारायण जा पहुँचा। मुझे देख रावल जी और उन के साथी जो घबराए हुए थे, विस्मय-प्रकाश-पूर्वक पूछने लगे "आज सारा दिन तुम कहां रहे ?" तब मैं ने सब वृत्तांत क्रमबद्ध सुनाया। उस रात्रि कुछ आहार करके, जिस से मेरी शक्ति लौटती हुई जान पड़ी, मैं सो गया। दूसरे दिन प्रातः शीघ्र ही उठा और रावलजी से आगे जाने की आज्ञा मांगी। और अपनी यात्रा से लौटता हुआ रामपुर की ओर चल पड़ा। उस सायं चलता २ एक योगी के घर पहुंचा। वह बड़ा तपस्वी था। रात्रि उसी के घर काटी। वह पुरुष जीवित ऋषि और साधुओं में उच्चकोटि के ऋषि होने का गौरव रखता

---

१. मानाग्राम देखो पृष्ठ ३१ की टिप्पणी।

था। धार्मिक विषयों पर बहुत काल तक उस का मेरा वार्त्तालाप हुआ। अपने संकल्पों को पहले से अधिक दृढ़ करके मैं आगामी दिन प्रातः उठते ही आगे को चल दिया। कई वनों और पर्वतों से होता हुआ चिलका घाटी से उतर कर मैं अन्ततः रामपुर पहुँच गया। वहां पहुँच कर मैं ने प्रसिद्ध रामगिरि के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अति प्रसिद्ध था। मैं ने उस को विचित्र प्रकृति का पुरुष पाया अर्थात् वह सोता नहीं था, वरन् सारी २ रातें उच्च स्वर से बातें करने में व्यतीत करता। वह बातें प्रकट में आपने साथ करता हुआ प्रतीत होता था। प्रायः हम ने उच्च स्वर से चीख मारते हुए उसे सुना। पुनः कई वार रोते हुए और चीख मारते हुए सुना। पर वस्तुतः जब उठ कर देखा तो उस के कमरे में उस के अतिरिक्त और कोई पुरुष दिखाई न दिया। मैं एसी वार्त्ता से अत्यन्त विस्मित हुआ। जब मैं ने उस के चेलों और शिष्यों से पूछा तो उन विचारों ने केवल यही उत्तर दिया कि "ऐसी इसकी प्रकृति ही है।" पर मुझे यह कोई न बता सका कि इस का क्या रहस्य है। अन्त को स्वयं जब मैं ने उस साधु से कई बार एकान्त में चर्चा की तो मुझे ज्ञात हो

गया कि वह क्या बात थी। इस प्रकार मैं इस निश्चय करने के योग्य हो गया कि अभी वह जो कुछ करता है वह पूरी पूरी योगविद्या का फल नहीं, प्रत्युत पूरी में अभी उसे न्यूनता है। और यह वह वस्तु नहीं कि जिस की मुझे जिज्ञासा है। यह पूरा योगी नहीं, यद्यपि योग में कुछ गति रखता है।

उस से चलकर मैं काशीपुर गया। वहां से द्रोण-सागर जा पहुँचा। वहीं मैं ने सारा शरद् ऋतु काटा। हिमालय पर्वत पर पहुँच कर देह त्याग करना चाहिये, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् देह छोड़ना चाहिये। अतः वहां से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल आ पहुँचा। वहां से गढ़मुक्तेश्वर से होते हुए पुनः मैं गङ्गा तट पर आ निकला। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास निम्न-लिखित पुस्तकें भी थीं। शिव सन्ध्या, हठप्रदीपिका,[१] योगबीज, केशराणि संगीत (?)। प्रायः मैं इन्हीं, पुस्तकों को यात्रा में पढ़ा करता था। उन में से कई पुस्तकों का विषय नाड़ीचक्र आदि था। पर उन में

१. इन पुस्तकों के नामों में कुछ भेद है। परन्तु सब पुस्तकों के मिलाने से उपर्युक्त नाम ठीक समझे गये हैं।

इस विषय का ऐसा लम्बा चौड़ा विवरण था कि पुरुष पढ़ता २ थक जाता । मैं उन्हें कभी भी पूर्णतया अपनी बुद्धि में न ला सका और न ही समझ कर स्मरण कर सका। अतः मुझे विचार हुआ कि न जाने, ये सत्य भी हैं वा नहीं। ऐसा सन्देह होता ही गया, यद्यपि मैं अपने संशय के मिटाने का यत्न करता रहा। परन्तु वह संशय दूर न हुए और न ही उन के दूर करने का कोई अवसर प्राप्त हुआ। एक दिन दैवसंयोग से एक शव मुझे नदी में बहता हुआ मिला। तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता। और अपने मन में उन पुस्तकों के सम्बन्ध में जो विचार उत्पन्न हो चुके थे उन का निर्णय करता। सो उन पुस्तकों को जो मेरे पास थीं, समीपही एक ओर रख, वस्त्रों को ऊपर उठा, मैं नदी के भीतर गया और शीघ्र वहां जा शव को पकड़ तट पर आया। मैं ने तीक्ष्ण चाकू से जैसा हो सका, उसे यथायोग्य काटना प्रारम्भ किया और हृदय को उस में से निकाल लिया और ध्यान पूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उस से तुलना करने लगा। ऐसे ही शिर और ग्रीवा के अङ्गों को काट कर सामने रखा। यह निश्चय कर के कि उन दोनों

अर्थात् पुस्तक और शव लेशमात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैं ने पुस्तकों को फाड़ कर उन के टुकड़े कर डाले और शव को फैंक, साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक दिया। उसी समय से शनैः २ मैं यह परिणाम निकालता गया कि वेदों, उपनिषदों, पातञ्जल और सांख्य-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और योग-विद्या पर लिखी गईं, मिथ्या और अशुद्ध हैं।

ऐसे ही कुछ दिन और गङ्गा तीर पर विचरते हुए फ़र्रुख़ाबाद पहुँचा। और शृङ्गीरामपुर से होकर छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर जाने वाला था, जब संवत् १९१२ विक्रम समाप्त हुआ।

१९१३–अगले पांच मास में कानपुर वा प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे। भाद्रपद के प्रारम्भ में मिर्जापुर पहुँचा। वहां एक मास से अधिक विन्ध्याचल अशोलजी के मन्दिर में निवास किया। असूज के आरम्भ में काशी पहुँचा। वहां जाकर मैं उस गुफा में ठहरा जो वरुणा और गङ्गा के संगम पर है। और जो उस समय भवानंद सरस्वती के अधिकार में थी। वहां पर कई शास्त्रियों अर्थात् काकाराम, राजाराम

आदि से मेरा परिचय हुआ, परन्तु वहां केवल १२ ही दिन रहा।

तत्पश्चात् जिस वस्तु की खोज में था, उस के अर्थ आगे को चल दिया। और असूज सुदि २, १९१३ को दुर्गाकुण्ड के मन्दिर पर, जो चण्डालगढ़[1] में है पहुँचा। वहां दश दिन व्यतीत किए। यहां मैंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिये और केवल दूध पर अपना निर्वाह कर के दिन रात योग-विद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहा। दौर्भाग्यवश वहां मुझे एक बड़ा दोष लग गया अर्थात् भांग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई बार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता। एक दिन मन्दिर से निकल कर चण्डालगढ़ के निकटस्थ जो एक ग्राम को आता था तो एक पुराना साथी मिला। ग्राम की दूसरी ओर कुछ ही दूर एक शिवालय था। वहां जाकर मैं ने रात काटी। रात्रि के समय भांग से उत्पन्न हुई मादकता के कारण जब मैं अचेत सोता था तो मैंने एक स्वप्न देखा। वह ऐसे था। मुझे विचार हुआ कि मैं ने महादेव और उन की स्त्री पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्त्तालाप

१. अर्थात् वर्त्तमान चुनारगढ़। यु० मी०।

कर रहे थे और उन की बातों का पात्र मैं था अर्थात् मेरे ही सम्बन्ध में वे कह रहे थे। पार्वती महादेव जी से कहती थी "उत्तम हो यदि दयानंद सरस्वती का विवाह हो जावे" परन्तु देवता इस से भेद प्रकट कर रहे थे और उन का संकेत भांग की ओर था। मैं जागा और स्वप्न पर विचार करने लगा। तब मुझे बड़ा दुःख और क्लेश हुआ। उस समय धारासार वर्षा हो रही थी। मैं ने उस बराम्दे में जो मन्दिर के मुख्य द्वार के सन्मुख था, विश्राम किया। वहां नंदी वृष-देवता की एक विशाल मूर्ति खड़ी थी। अपने वस्त्र और पुस्तकादि उस की पृष्ठ पर रख कर मैं उस के पीछे बैठ गया और निज विचार में निमग्न हुआ। सहसा नन्दी मूर्त्ति के भीतर दृष्टिपात करने पर मुझे विदित हुआ कि एक मनुष्य उस में छिपा हुआ है। मैं ने अपना हाथ उस की ओर फैलाया। इस से वह अति भयभीत हुआ, क्योंकि मैं ने देखा कि उस ने तत्काल छलांग मारी और छलांग मारते ही वेग से ग्राम की ओर भागा। तब उस के जाने पर मैं उस ही मूर्ति के भीतर बैठ गया और अवशिष्ट रात्रि भर वहां सोता रहा। प्रातःकाल एक वृद्धा वहां आई। उस ने वृषदेवता की पूजा की, जिस अवस्था

से कि मैं भी उस के अन्दर ही बैठा हुआ था। कुछ देर पीछे वह गुड़ और दही लेकर लौटी। मेरी पूजा करके और भ्रान्ति से मुझे ही देवता समझ कर उस ने कहा "आप इसे ग्रहण कीजिये और इस में से कुछ खाइये।" मैं ने क्षुधार्त होने के कारण वह सब खा लिया। दही क्योंकि बहुत खट्टा था, अतः भांग की मादकता के दूर करने में एक अच्छा निदान हो गया। उस से मादकता जाती रही और मुझे बहुत आराम प्रतीत हुआ।

चैत्र १९१४—वहां से आगे चला और वह मार्ग पकड़ा कि जिस ओर पर्वत थे और जहां से नर्मदा निकली है, अर्थात् नर्मदा के स्रोत की ओर यात्रा आरम्भ की। मैं ने कभी एक बार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा प्रत्युत दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया। शीघ्र ही मैं एक ऐसे उजाड़, निर्जन स्थान में पहुँच गया, जहां चारों ओर बहुत घने वन और जङ्गल थे। वहां जङ्गल में अनियमित दूरी पर विना क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ झोंपड़ियां थीं। कहीं २ पृथक् २ ठीक झोंपड़ियां भी दृष्टिगोचर होती थीं। उन झोंपड़ियों में से एक पर मैं ने किञ्चित् दुग्ध पान किया और पुनः आगे की ओर चल दिया।

परन्तु इस के आगे लग भग पौन कोस चल कर मैं पुनः एक ऐसे ही स्थान पर पहुँचा जहां कोई प्रसिद्ध मार्ग आदि दिखाई न देता था। अब मेरे लिये यही उचित प्रतीत होता था कि उन छोटे २ मार्गों में से (जिन्हें मैं न जानता था कि कहां जाते हैं) कोई एक चुनूं और उस ओर चल दूं। सुतरां मैं शीघ्र ही एक निर्जन वन में प्रविष्ट हुआ। उस जङ्गल में बेरियों के बहुत वृक्ष थे। परन्तु घास इतना घना और लम्बा था कि मार्ग सर्वथा दृष्टिगोचर न होता था। वहां मेरा सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ। वह पशु बड़े वेग और उच्च स्वर से चीखा। चिंघाड़ कर अपनी पिछली टांगों पर खड़ा हो मुझे खाने के निमित्त उसने अपना मुख खोला। कुछ काल तक मैं निष्क्रिय स्तब्धवत् खड़ा रहा। पश्चात् शनैः २ मैं ने अपने सोटे को उस की ओर उठाया। उससे भयभीत हो वह उलटे पांव लौट गया। उस की चिंघाड़ वा गर्ज ऐसी बलपूर्ण थी कि ग्राम वाले जो मुझे अभी मिले थे, दूर से उसका शब्द सुन कर लठ ले शिकारी कुत्तों सहित मेरी रक्षार्थ वहां आए। उन्हों ने मुझे यह समझाने का परिश्रम किया कि मैं उनके साथ चलूं। वे बोले "इस ज़ंगल में यदि तुम कुछ भी आगे बढ़ोगे

तो तुम्हें संकटों का सामना करना पड़ेगा। पर्वत वा वन में बहुत से भयानक क्रूर और हिंसक जंगली पशु अर्थात् रीछ, हाथी, शेर आदि तुम को मिलेंगे। मैं ने उन से निवेदन किया कि आप मेरे कुशल मंगल का कुछ भय न करें क्योंकि मैं कुशल, मंगल और रक्षित हूं। मेरे मन में तो यही सोच थी कि किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अतः समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे। जब उन्हों ने देखा कि उन की भयानक बातें मेरे लिये कोई भय उत्पन्न नहीं करतीं और मैं अपने संकल्प में पक्का हूं, तो उन्हों ने मुझे एक दण्ड दिया, जो मेरे सोटे से बड़ा था और जिस से मैं अपनी रक्षा करूं। परन्तु मैं ने उस दण्ड को तुरंत अपने हाथ से फेंक दिया।

उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अंधकार न छाया, मैं बराबर यात्रा करता हुआ चला गया। कई घण्टों तक मानव-बस्ती का मुझे कोई चिन्ह न मिला। दूर २ तक कोई ग्राम दिखाई न दिया। कोई झोंपड़ी भी तो दृष्टिगोचर न होती थी और न ही कोई मनुष्य जाति मेरी आंखों के सामने आई। पर वह वस्तुएं जो प्रायः मेरे मार्ग में आईं, वृक्ष थे। उनमें से अनेक टूटे

पड़े थे कि जिनकी जड़ों को मस्त हस्तियों ने तोड़ और उखेड़ कर फेंक दिया था। इस से कुछ दूर आगे मुझे एक विशाल विकट वन दिखाई दिया। उस में प्रवेश करना कठिन था अर्थात् बेर आदि कांटे वाले वृक्ष इतने घने लगे हुए थे कि उन के भीतर से निकल कर वन में पहुँचना अति दुस्तर प्रत्युत असम्भव प्रतीत होता था। प्रथम तो मुझे उस के भीतर से निकलना असम्भव दिखाई दिया, परन्तु पीछे पेट के बल और जानू के सहारे मैं शनैः २ सर्पवत् उन वृक्षों में से निकला। और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की। इस दिग्विजय के प्राप्त करने में मुझ को अपने वस्त्रों के टुकड़ों का कर [भेंट] देना पड़ा और कुछ कर मुझ को अपने शरीर के मांस का भी भेंट करना पड़ा। मैं इस में से घायल और अधमरा हो कर निकला। उस समय सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। तम के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर न होता था। यद्यपि मार्ग रुका हुआ था और दिखाई न देता था तो भी मैं आगे बढ़ने के विचार को तोड़ न सकता था। मैं इस आशा में था कि कोई मार्ग निकल ही आवेगा। अत एव निरन्तर आगे को चलता गया और बढ़ता रहा। अन्त को मैं एक ऐसे

भयानक स्थान में पहुँचा कि जहां चारों ओर उच्च शैल और पर्वत थे कि जिन पर घनी ओषधियां और वनस्पतियां उगी हुई थीं। पर इतना अवश्य था कि मनुष्यवास के वहां कुछ २ चिह्न और संकेत पाये जाते थे। अस्तु, शीघ्र ही मुझे कई झोंपड़ियां और कुटियायें दिखाई पड़ीं। उन के चारों ओर गोबर के ढेर लगे हुए थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत सी बकरियां चर रही थीं। झोंपड़ियों और टूटे फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों में से टिमटमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था, जो जाते हुए पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था। मैंने वहां एक विशाल वृक्ष के नीचे, जो एक झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था, रात्रि व्यतीत की।[1] प्रातः उठ कर मैं अपने क्षत पांव, हाथ और दण्ड को नदी जल से धो कर सन्ध्या वा प्रार्थना के लिये बैठने को ही था कि किसी जंगली पशु की गर्ज मेरे कर्णगोचर हुई। वह ध्वनि "टम २"

---

१. यहां से आगे के पाठ में कुछ गड़बड़ी हुई है। मुद्रित पाठ के अनुसार दो रात्रियों का वर्णन प्रतीत होता है। पर रहे थे इस स्थान पर एक ही रात्रि। यह इस प्रकार की पंक्तियों से भी स्पष्ट है।

का उच्च शब्द था। कुछ काल पश्चात् मैंने एक बड़ी सवारी या जनसमूह को आते हुए देखा। उस में बहुत से स्त्री पुरुष और बालक थे। उन के पीछे बहुत सी गौएं और बकरियां थीं। वे एक झोंपड़ी या घर से निकले। अनुमान है कि वे किसी धार्मिक त्यौहार की रसमें पूरी करने के लिए, जो रात्रि को हुआ, आए थे। जब उन्होंने मेरी ओर देखा और मुझे उस स्थान में एक अजान पुरुष जाना, तो बहुत से मेरे चारों ओर एकत्र हुए। अन्ततः एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़ कर मुझ से पूछा कि तुम कहाँ से आए हो ? मैं ने उन सब से कहा कि मैं काशी से आया हूं और अब नर्मदा नदी के स्रोत की ओर यात्रा के लिये जा रहा हूं। इतना पूछ कर वे सब मुझे अपनी उपासना करने में निमग्न छोड़ कर चले गए। उन के जाने के आध घण्टा पश्चात उन का एक अध्यक्ष दो पर्वतीय पुरुषों सहित मेरे पास आया और एक दिशा में बैठ गया। वह वस्तुतः उन सब की ओर से प्रतिनिधि बन कर मुझे अपनी झोंपड़ियों में बुलाने को आया था, परन्तु पूर्ववत् मैं ने अब भी उनका निमन्त्रण अस्वीकार किया, क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे। तब उसने अपने साथ वालों को मेरे समीप अग्नि प्रज्वलित करने का आदेश किया। और

दो पुरुषों को स्थापित किया कि रात्रि भर मेरी रक्षा करते हुए जागते रहें। जब उस ने मुझ से मेरे भोजन के सम्बन्ध में पूछा और मैंने उसे बताया कि मैं केवल दूध पी कर निर्वाह किया करता हूँ, तो उस दयावान् अध्यक्ष वा नेता ने मुझ से मेरा तूम्बा मांगा। उसे लेकर वह अपनी कुटी को गया और वहां से उसे दूध से भर कर मेरे पास भेज दिया। मैंने उस रात्रि उस में से थोड़ा सा दूध पिया। वह फिर मुझे उन दोनों पहरा देने वालों के ध्यान में छोड़ कर लौट गया। उस रात्रि में घोर निद्रा में सोया और सूर्योदय तक सोया रहा। तत्पश्चात् अपने सन्ध्या आदि से अवकाश प्राप्त कर के मैं उठा और यात्रा के लिये चला।[1]

ऐसे ही नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक फिरता और अनेक महात्माओं से सत्संग करता रहा।[2] फलतः नर्मदा स्रोत से लौट कर मैं विशेष विद्या प्राप्ति के अर्थ मथुरा आया।

---

१. थ्यासोफिस्ट का लेख यहां समाप्त हो जाता है। आगे केवल पूना व्याख्यान का अनुवाद है।

२. "फिर नर्मदा तट में दर्शन शास्त्रों को पढ़ा।" पत्रविज्ञापन पृ० २१, पंक्ति १ संस्क० २।

१९१७-१९—मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष मुझे गुरु मिले। उनका नाम विरजानन्द स्वामी है। वे पहले अलवर में थे। उस समय उन की आयु ८१ वर्ष की थी। उन की वेद से लेकर आर्ष शास्त्रों में अत्यधिक रुचि थी। वह दोनों चक्षुहीन थे। उन के उदर में सदा शूल की पीड़ा रहती थी। उन की आधुनिक कौमुदी, शेखर आदि ग्रन्थों पर बड़ी अश्रद्धा थी। भागवत आदि, पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे। समस्त आर्ष ग्रन्थों पर उन की अत्यन्त भक्ति थी। आगे जब उनका परिचय हुआ तो "तीन वर्ष में व्याकरण आता है" उन के ऐसा कहने पर मैं ने उनसे पढ़ने का निश्चय किया।

मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नाम का था। मेरे विद्याध्ययन के काल में जो उपकार उसने मुझ पर किये, उन्हें मैं कभी न भूलूँगा। पुस्तक, सामग्री और मेरे भोजन आदि का प्रबन्ध उस ने अति उत्तम कर दिया। स्वयं जब उसे कहीं बाहर भोजन करने जाना होता तो प्रथम मुझ को घर में बना कर खिलाता, पुनः आप बाहर जाता। इस प्रकार वह पुरुष बहुत उदारचित्त था। मैं संवत् १९१९ तक मथुरा में रहा।

१९२०-२१—विद्याध्ययन समाप्त करके दो वर्ष तक

में आगरा में रहा।[1] परन्तु समय २ पर पत्र द्वारा अथवा स्वयं मिलकर स्वामी जी से शंका-समाधान कर लिया करता था। वहां से ग्वालियर गया और थोड़ा सा वैष्णव मत का खण्डन प्रारम्भ किया। (वहां भी जो २ पुस्तक मिला उनका विचार किया।)[2] वहां से भी मथुरा में स्वामी जी को पत्र भेजता रहता था। यहां ग्वालियर में माधव अनुत्तमाचार्य नामक एक पण्डित था। वह लेखक (क्लर्क) के रूप में वादादि सुनने के लिये आ बैठता। किसी समय मेरे मुख से कोई अशुद्धि निकलती, तो वह तुरन्त मुझे पकड़ लेता। मैंने बहुत बार पूछा कि आप कौन हो, पर वह कहता कि मैं तो साधारण लेखक हूँ। सुन २ कर परिचित हो गया हूं। ऐसा कह छोड़ता। एक दिन "वैष्णव खड़ी रेखा लगाते हैं" इस पर बात चीत चली। तब मैंने कहा "यदि एक खड़ी रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है तो सारा मुख काला कर लेने से स्वर्ग से भी आगे कोई स्थान मिलता होगा।" ऐसा सुन उसे बहुत

---

१. "फिर मथुरा से आगरा नगर में दो वर्ष तक स्थिति की। वहां ऋषि, मुनियों के सनातन पुस्तक और नवीन पुस्तक भी बहुत मिले। इन को विचारा।" पत्र विज्ञापन पृष्ठ २१, पंक्ति ३, ४ संस्क० २।

२. पत्रविज्ञापन, पृष्ठ २१, पंक्ति ५, संस्क० २।

क्रोध आया और वह उठ कर चल दिया। तब मुझे खोज करने पर विदित हुआ कि यह अनुत्तमाचार्य है ॥

ग्वालियर से मैं करौली गया। वहां एक कबीर पंथी मिला उस ने एक-वीर का यह कबीर ऐसा अनुवाद किया था। एक कबीरोपनिषद् है ऐसा वह मुझे कहने लगा। वहां से आगे जयपुर गया। जयपुर में हरिश्चन्द्र एक विद्वान् पण्डित था। वहां मैंने प्रथम वैष्णवमत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया। इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष माला मैंने अपने हाथ से दीं। वहां शैवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी घोड़े आदि सब के गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गईं।

जयपुर से मैं पुष्कर गया और वहां से अजमेर को। अजमेर जाने पर शैवमत का भी खण्डन आरम्भ कर दिया। उस समय जयपुर के महाराज लाट महोदय से मिलने के लिए आगरा जाने वाले थे। वृन्दावन में रङ्गाचार्य करके एक पण्डित था, तब कहीं उससे शास्त्रार्थ हो, ऐसा सोच राजा रामसिंह ने मुझे बुला भेजा। मैं जयपुर गया। परन्तु मैं ने शैवमत का भी खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया है, यह समझ राजा अप्रसन्न हुआ। तब मैं जयपुर से चला

गया, पुनः मथुरा आकर स्वामी जी के पास शंकाओं का समाधान कर लिया। वहां से फिर हरद्वार गया।

'पाखण्डमर्दन' यह अक्षर लिखकर मैं ने एक ध्वजा अपनी कुटी पर लगाई। वहां वाद विवाद बहुत हुआ, पुनः मेरे मन में ऐसा प्रतीत होने लगा कि समस्त संसार से विरोध करके और गृहस्थों की अपेक्षा भी पुस्तक आदि बहुत सामग्री रख के क्या करना है। इस हेतु मैं ने सर्वत्याग किया और कौपीन लगा मौन धारण किया।

उस दिन से जो शरीर पर भस्म लगानी आरम्भ की थी, वह गत वर्ष (सं० १९३१) मुम्बई आने तक लगाता ही रहा। रेल पर बैठने के समय से वस्त्र पहनने लगा। अस्तु, वहां हरद्वार पर जो मैंने मौन धारण किया था, वह अधिक दिन नहीं रहा। कारण यह कि बहुत लोग मुझे पहचानते थे और एक दिन मेरी पर्णकुटी के द्वार पर आकर एक मनुष्य कहने लगा कि "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" अर्थात् भागवत की अपेक्षा वेद कुछ अधिक नहीं प्रत्युत् भागवत के पीछे हैं। तब वह मुझ से सहन न हुआ और मौन व्रत छोड़ मैं भागवत का खण्डन करने लगा।

१९२५—फिर ऐसा विचार किया कि ईश्वर कृपा से अपने को जो थोड़ा बहुत ज्ञान मिला है, वह सब मनुष्यों को

कहना चाहिये। ऐसा संकल्प करके मैं फर्रुखाबाद आया। वहां से रामगढ़ गया। रामगढ़ में वाद विवाद आरम्भ किया। वहां जब दो चार शास्त्री एक दम बोलने लगते, तो मैं 'कोलाहल' ऐसा कहता। अतएव वहां के लोग मुझे आज तक कोलाहल स्वामी कहते हैं। वहां चक्रांकितों के दश आदमी मुझे मारने को आए। परन्तु उन से बड़े संकट से बचा। फर्रुखाबाद से कानपुर आया और वहां से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मुझे मारने को लोग आये, परन्तु माधवप्रसाद नामक एक भद्र पुरुष ने बचाया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत स्वीकार करने को था और उस ने सारे पण्डितों को विज्ञापन दिये थे कि तीन मास में अपने आर्य धर्म में मेरी संतुष्टि करदें, अन्यथा ऐसा न होने पर मैं कृष्टान मत स्वीकार करूंगा। मैं ने उस का आर्यधर्म में निश्चय करा दिया और वह कृश्चीन होने से बच गया।

१९२६—प्रयाग से मैं रामनगर आया। वहां रामनगर के राजा के कहने पर काशीस्थ पण्डितों से शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हुआ। उस विवाद में "प्रतिमा" ऐसा शब्द वेदों में है[1] वा नहीं, यह विषय चला। प्रतिमा शब्द वेदों में

१. न तस्य प्रतिमा अस्ति। यजु० १५।६५॥ यु. मी.।

है, परन्तु उस का अर्थ "माप" है, ऐसा मैंने सिद्ध कर दिखाया। वह शास्त्रार्थ अन्यत्र छपकर प्रसिद्ध हुआ है।[१] उसे सब पढ़ कर देखें। इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ ही ग्रहण करने चाहियें, ऐसा भी वहां वाद चला था।

१९२९—गत वर्ष भाद्रपद में मैं काशी में था। आज तक चार बार काशी गया हूं। जब जब काशी जाता हूं तब 'किसी को वेदों में मूर्तिपूजन मिला हो तो लावे' ऐसा विज्ञापन देता हूं। परन्तु अब तक कोई वचन नहीं निकला। इस प्रकार उत्तरीय भारत के समस्त प्रान्तों में मैंने भ्रमण किया है। आज दो वर्ष से कलकत्ता, लखनऊ, प्रयाग, कानपुर, जब्बलपुर आदि स्थानों में मैंने बहुत से लोगों को धर्मोपदेश किया है। फर्रुखाबाद, काशी आदि स्थानों में चार पाठशालाएं आर्षविद्या सिखाने के लिए स्थापित की हैं। उन के अध्यापकों की क्षुद्रता के कारण जितना लाभ चाहिये था, उतना नहीं हुआ। मैं गत वर्ष मुम्बई आया। वहां गोसांई जी महाराज के पक्ष का खण्डन बहुत प्रकार से किया और मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की।

---

१. यह शास्त्रार्थ काशी शास्त्रार्थ के नाम से संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में छपा मिलता है। यु० मी०।

१९३१.—मुम्बई से अहमदाबाद और वहां से राजकोट जाकर, कछ दिन धर्मोपदेश किया। इन दिनों तुम्हारे इस नगर (पूना) में प्रायः दो मास से आकर ठहरा हूं। इस समय मेरा वय ४९ वा ५० वर्ष का होगा। इस प्रकार मेरा पूर्व का चरित्र है। आर्यधर्म की उन्नति हो इस लिये मेरे सदृश बहुत से धर्मोपदेशक अपने इस देश में उत्पन्न होने चाहियें। एक व्यक्ति द्वारा यह कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। फिर भी अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुकूल जो दीक्षा मैंने ली है, उसे चलाऊंगा, ऐसा संकल्प किया हुआ है। आर्यसमाज की सर्वत्र स्थापना हो कर मूर्तिपूजा आदि दुष्ट आचार कहीं न हों, वेद शास्त्र का सत्यार्थ प्रकाशित हो और उस के अनुकूल आचरण होकर देश की उन्नति हो, ऐसी ही ईश्वर से प्रार्थना हैं। तुम्हारी सब की सहायता से अन्तःकरण पूर्वक मेरी वह प्रार्थना सिद्ध होगी, ऐसी पूर्ण आशा है।

और मैंने जो उपकार करना निश्चित किया है, जहां तक बन सकेगा, आमरण तक करूँगा, पुनर्जन्मान्तर में भी।'
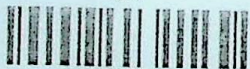
श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का महत्वपूर्ण नया प्रकाशन

ऋषिदयानन्दकृत-यजुर्वेदभाष्य-विवरण

प्रथम भाग, संशोधित व परिवर्धित द्वितीय संस्करण

पाठकों को यह जान कर महान् हर्ष होगा कि महार्षि दयानन्द सरस्वतीकृत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम भाग १० अध्याय पर्यन्त का संशोधित व परिवर्धित द्वितीय संस्करण छप कर तैयार हो गया है, यह संस्करण महर्षि के हस्तलेखों तथा फोटो से मिलान करके तैयार किया गया है। साथ में ऋषि के अनन्य भक्त, वेदों के विद्वान् तपोमूर्त्ति श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत विवरण भी है, जिस में ऋषि, देवता, छन्द, पदपाठ पदार्थ, अन्वय, भावार्थ एवं मूलहस्तलेखों इत्यादि विषयों पर बड़ी ही मार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियां हैं और व्याकरणानुसार स्वरप्रक्रिया तथा त्रिविध प्रक्रिया भी है। आर्षग्रन्थों के प्रमाणों सहित ऋषिभाष्य की पुष्टि की गई है। स्थान स्थान पर महीधर सायणादिकृत भाष्यों की भूलों पर भी प्रकाश डाला गया है।

११०० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल लागतमात्र १६) रु०

रामलाल कपूर एन्ड संस लिमिटेड पेपर मर्चेंट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर।
५१, सुतार चौल, बम्बई। वेदवाणी कार्यालय, को० अजमतगढ पैलेस, वाराणसी-६ (बनारस-६)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रकाशन

१. सन्ध्योपासनविधि—ऋषिदयानन्दकृत भापार्थ —)
,, ,, , ,, प्रार्थना हवन सहित —)॥
२. हवनमन्त्र—प्रार्थना स्वस्तिवाचन शान्ति प्रकरण बृहद् हवन —)
३. पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत =)
४. आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्द कृत —)
५. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्द कृत =)॥
६. आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्द कृत ।=)
७. उरुज्योतिः—वैदिक अध्यात्मसुधा-श्री डा० वासुदेवशरण जी लिखित वैदिक अध्यात्मविषयक उच्च कोटि का श्रेष्ठ ग्रन्थ ३)
८. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—घटाया हुआ मू० बढ़िया सं० ४ साधारण सं० ३)
९. ऋग्वेद भाषाभाष्य—प्रथम भाग २॥)
१०. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ७)
११. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन का परिशिष्ट ।॥)
१२. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ [मूलमात्र] ॥)
१३. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि ॥)
१४. वेदार्थ प्रक्रिया केमूलभूत सिद्धान्त =)
१५. वैदिक ईश्वरोपासना—ऋषि दयानन्द कृत =)
१६. वैदिक वाङ्मय का इतिहास [वेदों की शाखायें] १०)
१७. क्षीरतरङ्गिणी—क्षीरस्वामी विरचित धातुपाठ-व्याख्या १२)
१८. वेदाङ्ग—उच्च कोटि के गवेषणात्मक वेदविषयक मौलिक निबन्धों का संग्रह प्रत्येक वर्ष का १)
१९. वेदवाणी—उच्च कोटि की मासिक पत्रिका वार्षिक मूल्य ५)

रामलाल कपूर एन्ड संस लिमिटेड पेपर मर्चेन्ट

गुरु बाजार अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर,
वेदवाणी कार्यालय—पो० अजमतगढ़ पैलेस, बनारस नं० ६।